

द्वितीय अध्याय

भारतीय रंगमंच का उद्भव एवं विकास

भूमिका

साहित्य की सर्वाधिक रम्य विधा नाटक है—“काव्येषु नाटकं रम्यम्”। इस रम्यता का कारण यह है कि नाटक में रचनाकार, अभिनेता और सामाजिक— तीनों की समन्वित भूमिका रहती है। साहित्यकार नाटक की रचना केवल पढ़ने के लिए नहीं करता है, अभिनय भी उसकी दृष्टि में रहता है। साथ ही, वह यह भी ध्यान में रखता है कि रंगमंच पर नाटक का प्रदर्शन होने पर सामाजिकों अर्थात् दर्शकों पर उसका अभीष्ट प्रभाव पड़े। इसलिए प्रत्येक नाटक मूल रूप में रंगमंच से जुड़ा हुआ होता है। नाटककार निश्चय ही अपनी रचना को एक श्रेष्ठ साहित्यिक कृति बनाने के साथ-साथ अभिनेय भी बनाना चाहता है। यह बात अलग है कि वह अपने इस प्रयत्न में किस सीमा तक सफल होता है। अतः रचनात्मक स्तर पर सरलता से नाटकों के मध्य पठनीय नाटक और रंगमंचीय नाटक जैसी विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। केवल अध्ययन की सुगमता के लिए इस प्रकार का विभाजन कर लिया जाता है। भारतीय नाट्य-परम्परा में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि प्रत्येक नाटक पठनीयता की दृष्टि से जितना श्रेष्ठ हो अभिनय की दृष्टि से भी उतना ही श्रेष्ठ होना चाहिए। यही कारण है कि भारतीय नाट्य शास्त्र में नाटक के रंगमंच पर विशेष विचार किया गया है। भारतीय लोक-जीवन और पारसी रंगमंच से भी हिन्दी नाटकों की रचना प्रभावित हुई है। भारत की अन्य भाषाओं में भी समृद्ध नाट्य-साहित्य मिलता है। अनुवादों के माध्यम से वह समृद्ध परम्परा भी हिन्दी नाटक को प्रभावित करती रही है। अतः हिन्दी नाटक के सम्यक् अध्ययन के लिए इन सब परम्पराओं का गंभीर ज्ञान अपेक्षित है। विशेष रूप से यह जानना आवश्यक है कि इन सब परम्पराओं में रंगमंच का जो स्वरूप रहा, उससे हिन्दी रंगमंच के विकास को किस सीमा तक प्रभावित किया और किस सीमा तक हिन्दी रंगमंच अपनी विशेषताएँ लेकर आगे बढ़ा।¹

भारतीय रंगमंच के इतिहास में संगीत का एक अपना प्रमुख स्थान रहा है। जिसमें अनेक शताब्दियों का नाटक एवं रंगमंच में संगीत की एक सूत्रता की निरंतरता का वर्णन प्राप्त होता रहा है। “नाटक साहित्य की वह विधा है जिसकी सफलता का परीक्षण रंगमंच पर होता है और रंगमंच एक युग विशेष की जनरुचि तथा तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर निर्मित होता है।” प्रत्येक युग की रंगमंच परम्परा अपने ही काल में कुछ ऐसी रूढ़ियाँ व मान्यताएँ स्थापित कर जाती है, जिनके रंगसूत्र कभी भी पूरी तरह लुप्त नहीं होते हैं। “महाकाव्य की भांति नाटक और रंगमंच की परम्परा भी जातीय जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक संस्कारों की वाहक होती है।” रंगसूत्र हिन्दी रंगमंच की एक मूलभूत कड़ी है। जो हिन्दी रंग-परम्परा की पृष्ठभूमि के अध्ययन का बहुत ही रोचक और प्रेरणादायक पक्ष है। जिसका अध्ययन निम्नलिखित चार सोपानों में क्रम बद्ध रूप में किया जा सकता है।

✽ लोक रंगमंच

✽ संस्कृत रंगमंच

✱ पारसी रंगमंच

✱ हिन्दी रंगमंच

2.1 लोक रंगमंच

‘लोक’ अंग्रेजी के “फोक” शब्द का पर्यायवाची शब्द है। डॉ. वार्कर ने इसका अभिप्राय किसी सभ्यता से दूर रहने वाली जाति को माना है। ‘लोक’ रंग परम्परा से तात्पर्य एक ऐसी परम्परा है जो प्रत्येक क्षेत्र को एक सूत्र में बाँधती है और सम्मिलित रूप से एक व्यक्तित्व प्रदान करती है। नाटक में लोक-रंग परम्परा का आशय है, नाटक का वह रूप जिसमें परम्परानुसार सामान्य जन-जीवन सहज, स्वाभाविक, औपचारिक- अनौपचारिक नृत्य, गीत और संगीतमय जीवन्त एवं लोकरंजन अभिव्यक्ति को सामान्य जन-कलाकार द्वारा सामान्य जन के लिये अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इसे जन-रंगमंच भी कहा जाता है।² ‘लोक’ शब्द से ग्रामवासी का भी बोध होता है। किन्तु यह शब्द आजकल जन-साधारण के लिये प्रयुक्त अर्थात् लोक प्रचलित हो गया है। जिस तरह मदारी झोला रखकर गली के नुक्कड़ पर ही डमरू व वांसुरी बजाता है और बड़े नाटकीय ढंग से तमाशा शुरू करता है, और लोग इक्कठे हो जाते हैं। फिर एक छोटा सा मंच बन जाता है। अर्थात् लोक-रंगमंच कहीं भी स्वरूप ले लेता है। वह शहर या गांव कहीं का भी हो सकता है।³

तेरहवीं शताब्दी में संस्कृत नाटक अधिकतर उच्च वर्ग, प्रमुखतः राजन्य वर्ग का ही प्रतिबिम्ब बन कर रह गया था। अतः संस्कृत रंगमंच के पतन के पश्चात् मुस्लिम आक्रमणों के कारण जीवन में अस्त व्यस्तता आ गई। राजाश्रय का अभाव हो गया तथा भारतीय रंग-परम्परा मध्यकाल में केवल लोक नाटकों के रूप में ही जीवित रह सकी।

हिन्दी रंगमंच में लोक-नाट्य, लोक-रंगमंच पर अभिनीत जन-जन की वह नाटक वृत्ति है जो नृत्य, गीत और संगीत के साथ जनपदीय मंच पर उन्मुक्त हास्य के साथ व्यक्त होती आयी है। इसे नटकला के रूप में ही रंगमंच पर श्रद्धा और विश्वास के साथ पूजा गया है। ‘लोक-नाट्य’ से तात्पर्य नाटक के उस रूप से हैं, जिसका संबंध विशिष्ट शिक्षित समाज से, भिन्न सर्वसाधारण के जीवन से है। जो परम्परा से अपने-अपने क्षेत्र के जनसमुदाय के मनोरंजन का साधन रहा है। किन्तु लोक-रंगमंच लोक नाटकों से बहुत पहले लोकनृत्य और लोकगीतों के साथ ही अस्तित्व में आया है। डॉ. कीथ, लोक-नाटक की उत्पत्ति नृत्य से मानते हैं, जिसमें नृत्य के साथ कथा-तत्व का संयोग बाद में हुआ था। जब कथा-तत्व को अधिक मात्रा में लोकगीत और नृत्य से ही संयुक्त किया गया, तभी से लोक-नाटकों की रंग-परम्परा का उद्भव माना गया है। यह पूजा, अर्चना, जन्म, मरण, पर्व, त्यौहार आदि विशेष प्रसंगों पर अपनी सुख-दुखात्मक अनुभूतियाँ अभिव्यक्ति करने का माध्यम माना जाता रहा है।⁴

“देशी भाषाओं में पारंपरिक रंगमंच की दो कोटियाँ हैं धार्मिक और पौराणिक नाट्यरूप और लोक आधारित सामाजिक रूप। धार्मिक पौराणिक नाट्य रूपों में असम का 14 वीं शताब्दी से प्रचलित नाट्य अंकिया नाट, केरल का 14 वीं शताब्दी का नृत्य-नाट्य कथकलि, उत्तर-प्रदेश के कृष्ण और रामनाट्य, रासलीला और रामलीला, महाराष्ट्र का पौराणिक नाट्य रूप दशावतार, आंध्रप्रदेश का नृत्य नाट्य कुचिपूड़ी, तमिलनाडु का पौराणिक नाट्य तेरुकुत्तु तथा कर्नाटक का नृत्य नाट्य यक्षगान लोक-परक नाट्यों में हैं बंगाल और उड़ीसा का जात्रा, मध्यप्रदेश का माच, कश्मीर का मांड पाथर, उत्तर प्रदेश के नौटंकी, हरियाणा का सांग तथा गुजरात का भवई आदि। ये सभी नाट्यरूप क्लासिकी नाट्य की भांति नियमबद्ध हैं, इनमें नाट्यधर्मिता बहुत अधिक है और इनमें क्लासिकी रंगमंच की वाचिक, आंगिक और सात्विक की अनेक रूढ़ियों का अनुशीलन होता है। संवादों को तालबद्ध करके उच्च स्तर तक खींच कर बोला जाता है। आंगिक अभिनय में मुद्राओं का प्रयोग तो होता ही है, गतिविधान अधिकतर रीतिबद्ध होता है, संगीत और वाद्य का तथा नृत्य गतियों का भरपूर प्रयोग होता है।”⁵

संगीत में लोक रंग-परम्परा अत्यंत प्राचीन है और संगीत ही लोक-रंग परम्परा के उद्गम का आधार स्तम्भ रहा है तथा प्रकृति की इसी विशाल गोद में संगीत, गीत, संवाद, नृत्य, कथा, अभिनय, दृश्य आदि का सृजन होता रहा है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में लोक-रंगमंच का उल्लेख सर्वत्र प्राप्त है। इसी ग्रंथ से स्पष्ट है कि लोक रंगमंच की परम्परा रासलीला, रामलीला, नौटंकी, स्वांग, जात्रा, कठपुतली आदि नाट्याभिनय के रूप में विद्यमान थी।

रासलीला के अस्तित्व का आभास वैदिक काल के नृत्यों के रूपों में भी मिलता है। उसके बाद भरत के ‘नाट्यशास्त्र’ में रास-रासक की परम्परा मिलती है। अभिनय भारती, नाट्य दर्पण, भाव-प्रकाशन, कामसूत्र में हल्लीसक के रूप में मंडल नृत्य का उल्लेख मिलता है। अपभ्रंस के रास नाटकों से लेकर ब्रज के रासलीला नाटकों तक एक समृद्ध परम्परा देश में पनपती रही है। उसने लोक-रंगपरम्परा के रंगमंच को सूना नहीं रहने दिया। रासलीला का अभिनय देवालय, कुंज अथवा यमुना तट पर खुले रंगमंच के रूप में किया जाता था। रासमण्डल के एक सिरे पर चौकी पर सिंहासन रखकर मंच तैयार किया जाता था। दूसरे सिरे पर समाजी गीत-वादक बैठते थे। रास के आरंभ में मंगलाचरण के रूप, सुर अथवा अंत में किसी संत का पद गाया जाता था। नेपथ्य का सूक्ष्म रूप रासलीला में रहता था। पात्रों की रंगमंचीय वेशभूषा निश्चित रहती थी। इन नाटकों में नृत्य और संगीत की प्रधानता रही है। लोक रंगमंच देहाती जीवन का अंग रहा है। जो लोगों के मनोरंजन और मनबहलाव का साधन है। लोक रंगमंच वह अमरबेलि है जो लोक संस्कृति से रस खींचकर युगों से हरी-भरी है।

लोक रंगमंच की प्राचीन परम्परा से प्रेरणा लेकर ही साहित्यिक रंगमंच का उद्भव हुआ है। लोकमंच में ना कोई नाटककार होता है, ना निर्देशक। धूमने वाली मंडलियां इसका विकास करती हैं। इनमें वाद्य-यंत्रों की प्रधानता रहती है। लोक-रंगमंच निरन्तर प्रवाहित होने वाली धारा है। लोक रंगमंच में प्रयुक्त काव्य मूलतः नाटकीय न होकर क्रियात्मक होते हैं। लोककला एक विशुद्ध कला नहीं है, और निश्चय ही यह नाटक नहीं है।

रामलीला और रासलीला के धार्मिक नाटक जो लोक-रंगमंच पर अभिनीत होते हैं उनकी अपेक्षा लोक-रंगमंच पर अभिनीत होने वाले धर्म-निरपेक्ष नाटकों की साज-सज्जा बहुत सादी

होती है। इनमें थोड़े से ही पात्र होते हैं, जो नाटकीय संवादों द्वारा कथा को आगे बढ़ाते हैं। बड़ी तीव्र गति से चलते हुए कथोपकथन दर्शकों पर सीधा और तत्कालिक प्रभाव डालते हैं। प्रायः कथा-वस्तु के बड़े ढाँचे में स्थानीय प्रसंगों को भी प्रदर्शन के लिए सम्मिलित कर लिया जाता है। कुछ झलकियों व पहेलियों के भी अत्यन्त रोचक प्रसंग आते हैं। हंसी के ठहाके, हाजिर जवाबियाँ, फब्तियाँ आदि सारी चीजें मिलकर एक मनोरंजक नाट्य-प्रदर्शन बना देती है। इसमें ढोल, तबले, हारमोनियम, पखावज, नगाड़ा आदि का भी प्रयोग किया जाता है। लोक-रंगमंच पर भी सादी प्रकाश-व्यवस्था होती है। प्रकाश हेतु दीपक, पट्टोमेक्स के साथ अब बिजली के प्रकाश का प्रयोग भी होने लगा। लोक-रंगमंच के पात्रों की वेशभूषा भी सीमित साधनों के कारण सस्ती होती है। इसी प्रकार मंच-सज्जा में भी ज्यादा तड़क-भड़क नहीं होती है वहां न तो पट्ट परिवर्तन होता है और न दृश्य परिवर्तन।

समग्र रूप से कहा जा सकता है, लोक-रंगमंच निरन्तर प्रवाहित होने वाली एक जीवन्त धारा है, जिसकी जड़ें अतीत की गहराइयों में जाकर धुसी होती हैं, किन्तु उसमें नित्य नयी लताएँ, नयी पत्तियाँ निकलती रहती हैं। हिन्दी रंगमंच और संस्कृत के इतिहास में इसका बड़ा महत्व है।

2.2 संस्कृत रंगमंच

हिन्दी रंगमंच में लोक रंगमंच के समान ही संस्कृत रंगमंच परम्परा बड़ी ही समृद्ध रही है। प्राचीन ग्रंथों में संस्कृत रंगमंच के उद्भव की रोचक कथा है तथा भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से इस रंग-परम्परा का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।⁶ संस्कृत रंगमंच के विषय में कुछ लोगों की धारणा है कि भारतीय रंग-नाटकों की उत्पत्ति कठपुतलियों के तमाशे से हुई थी। ये कठपुतलियाँ विभिन्न प्रकार की होती थीं। मंच पर बोलने वाली कठपुतलियाँ लायी जाती थीं।⁷ कुछ विद्वानों ने धार्मिक उत्सवों, वेद-पूजा, कर्मकाण्डों, वैदिक संवादों और सूक्तियों में संस्कृत रंगमंच की उत्पत्ति मानी है।⁸ नाट्यशास्त्र में वर्णित कथा के अनुरूप ही नाटक के लिये शिव और पार्वती ने अभिनय के लिये ताडवं और लास्य मिलाया तथा विष्णु ने उसे नाटकीय शैली दी और भरतमुनि ने इसका प्रचार किया।⁹

कुछ विद्वान संस्कृत नाट्य-उद्भव को देवासुर संग्राम के बाद 'इन्द्र विजियोत्सव' से मनाते हैं। इसमें सबसे पहले देवताओं ने दैत्यों का उपहास उड़ाया। इससे क्रुद्ध दैत्य उनके नाट्यभिनय में विध्न डालने लगे। इस पर इन्द्र ने शक्रध्वज से असुरों के शरीर को जर्जर कर रक्षा की, तब से रक्षा के प्रतीक के रूप में 'जर्जर' (ध्वज) की पूजा की जाने लगी। ब्रह्मा जी ने स्वयं विश्वकर्मा द्वारा रंगशाला का निर्माण करवाया और रंगकर्म की विधियों पर बल दिया। तत्पश्चात् 'नाट्यशास्त्र' में भरतमुनि ने विधिवत् रंगयोजना वर्णित की। संगीत और नृत्य विद्या का विकास हुआ। 'नाट्यशास्त्र' में सूत्रधार, ग्राथिक, अभिनेता आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है जिसमें नाटक और महाकाव्य की पाठ्य-विधि में परस्पर धनिष्ठ संबंध था।¹⁰

‘बाल्मीकि-रामायण’, वेदव्यास कृत ‘महाभारत’, पाणिनी की ‘अष्टाध्यायी’, पातांजलि के ‘महाभाष्य’, कौटिल्य का ‘अर्थशास्त्र’ और बौद्ध एवं जैन धर्मग्रंथों व पुराणों आदि में संस्कृत नाटकों की समृद्ध रंगमंच के प्रारंभिक रूप का स्पष्ट संकेत मिलता है कि आज से सहस्र वर्ष पूर्व वैदिक काल में भी संस्कृत नाट्य रंगमंच अपने पूर्ण विस्तार के साथ विद्यमान थी और वहां नाटक भी खेले जाते थे।¹¹ वैदिक यज्ञों तथा वैदिक समाज के अनुष्ठानों से ही इस परम्परा के बीच हमें दिखाई देते हैं। ऋग्वेद में आये अनेक पुरुरवा-उर्वशी, यम-यमी, इन्द्र-अदिति-वामदेव, इन्द्र-मरुत, अगस्त्य-लोपामुद्रा आदि संवाद सूक्त प्राचीन नाट्य का ही रूप है। भरत ने ब्रह्मा को नाट्यशास्त्र का रचयिता कहा है। भरत जिनका समय ईसा पूर्व चौथी सदी से लेकर ईसा पूर्व पहली सदी तक माना जाता है। उनके समय में भी लोक में नाटक प्रतिष्ठित रहा होगा ऐसा संकेत स्वयं भरत देते हैं। कौशिकी वृत्ति को भरत शिव परिवार से और विष्णु भगवान से उपलब्ध मानते हैं। इसी प्रकार संगीत के प्रवर्तकों में नारद तथा स्वाति आदि का नाम भरत आदर से लेते हैं। अर्थात् भरत से पूर्व भी लोक में नाटक खेलने की परंपरा किसी न किसी रूप में अवश्य प्रचलित रही होगी। यही कारण है कि भरत अनेक स्थलों पर कहते चलते हैं—

नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।

तसमाल्लोकप्रमाणं हि विज्ञेयं नाट्ययोक्तृभिः।।

बाद में ग्रंथ की परिसमाप्ति पर भरतवाक्य में भी वे कहते हैं—

न प्रोक्तं यच्च लोकादनुकृतिकरणं तच्च कार्यं विधिज्ञैः।

अर्थात् लोक परम्परा की रंगमंच के लिये प्रबल प्रमाण हैं। भरत का मानना है कि जो कुछ इस ग्रंथ में न आ सका हो उसे लोक प्रयोग परंपरा के अनुसार क्रिया विधि को जानने वाले नट, सूत्रधार आदि को लोक परंपरा से ग्रहण कर लेना चाहिए। संस्कृत रंगमंच की यह परंपरा निश्चित रूप से पाणिनि जैसे व्याकरण से भी पूर्व प्रचलित रही होगी।

पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः

इत्यादि सूत्र से यही प्रमाणित होता है।

भरत केवल शास्त्रकार नहीं हैं अपितु वे संस्कृत रंगमंच के प्रथम प्रयोक्ता भी हैं। खुले आकाश के नीचे सर्व प्रथम अमृतमंथन नामक नाटक भरत के ही निर्देशन में उनके शिष्यों द्वारा खेला गया। कुछ असुरों द्वारा व्यवधान उत्पन्न किये जाने पर भरत ने पहली बार प्रेक्षागृह का निर्माण कराया और फिर समुद्रमंथन नामक नाटक के मंचन का भी उल्लेख मिलता है। संस्कृत प्रयोग परंपरा की दृष्टि से देखें तो ये सब आदिम नाट्य प्रयोग कहे जा सकते हैं।¹²

संस्कृत रंगमंच और मंचीय कलाओं का विकास दक्षिण में अधिक योजनाबद्ध ढंग से हुआ। चिदंबरम का नटराज मंदिर भरत के नाट्यशास्त्र की प्रयोग परंपरा का मूर्त रूप है। जहाँ 108 करणों की मूर्तियां बनायी गयी हैं। दक्षिण भारत के मंदिरों में संस्कृत रंगमंच की परंपरा बहुत समय तक यथावत जीवित रही उसके बाद यही परंपरा कुडियाट्टम यक्षगान और अन्य रंगमंचीय लोक परंपराओं— भरतनाट्यम, कथकली, कुचिपुडी आदि लोक नृत्यों से जुड़कर नये रूपों में विकसित होती रही। “कुडियाट्टम में संस्कृत नाटकों का ही प्रदर्शन होता है, वास्तव में भारत में संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन की वही प्राचीन पद्धति हम आज देख सकते हैं। कुडियाट्टम में अभिनय नृत्य, संगीत, पात्रों के प्रवेश तथा नर्गक, अर्धपटी का प्रयोग गतिविधान आदि का स्वरूप नाट्यशास्त्र के अनुरूप हैं उसका नाट्यमंडप कूथम्बलम् कहा जाता है। कूथम्बलम् मंदिर के

दाहिनी ओर बना होता है। और प्राचीन समय से मंदिर किस प्रकार नाट्य के आश्रय रहे हैं उसका प्रमाण है। यह चतुस्र आकार का होता है और दर्शकों के बैठने के स्थल से कुछ ऊँचा होता है। छत को सहारा देने के लिये स्तंभ बने होते हैं, नाट्य मंच के ठीक पीछे नेपथ्यगृह होता है। नेपथ्य और मंच के बीच दो द्वार होते हैं, उन्हीं दो द्वारों के बीच कुतप अथवा वाद्यवृंद का स्थान होता है। कुथम्बलम् की मूर्तियाँ आदि के उत्कीर्णनों से खूब सजी होती हैं।¹³ उत्तर भारत में भी लोकनाट्य की अनेक परंपराएँ नौटंकी, रास, बिहू, नटुआ, नाच, रामलीला, हुडुक, किरतनिज आदि का प्रयोग परंपरा का लोक रूप है।



कुथम्बलम्

संस्कृत साहित्य में दो नाट्य विधाएँ बताई गई हैं—

1. रूपक
2. उपरूपक

रूपक नाटक का भेद माना गया है, तो उपरूपक नृत्य का। नाट्य शास्त्र में दस रूपक माने गए हैं। नाट्य शास्त्र और दस रूपक में वर्णित रूपक भेद ही सर्वमान्य हैं।

नाटक रूपक के भेदों में प्रमुख है, क्योंकि अन्य रूपकों के लक्षण नाटक के आधार पर ही निर्मित है। इसमें इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। इसी कारण 'काव्येषु नाटकम्रम्यम्' कहा गया है। संस्कृत नाट्य शास्त्रीय ग्रंथों में नाटक के वस्तु, नेता और रस ये तीन प्रमुख तत्व गिनाये गये हैं। इसमें संवाद का उल्लेख नहीं है। अभिनेयता, नृत्य, संगीत और वृत्तियों पर विस्तृत विवेचन मिलता है। संस्कृत नाट्य पर महाकाव्यों के प्रभाव के संबंध में मतभेद प्रायः हैं उनके कथानक और उनकी पाठ्य बहुलता इसी प्रभाव की सूचना देती है।

मैक्समूलर, सैल्वन लेवी, फ्रान श्रायडेर तथा ओल्डेन बर्ग ने वेदों में उपलब्ध कर्मकांड को संस्कृत नाटकों का आदि स्रोत माना है। कीथ ने महाकाव्यों से उसके जन्म को सम्बोधित किया। इसमें संदेह नहीं है कि संस्कृत नाट्य स्फुरणों का संबंध एक समय धर्म से जुड़ गया और धार्मिक कर्म काण्डों ने उनके विकास में योग दिया। अपने विकास के क्रम में संस्कृत नाट्य और संभवतः संसार के अन्य नाट्य भी धार्मिक कर्म काण्डों से प्रभावित हुए।

संभवतः कालीदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'मालती माधव', 'मालविकाग्नि मित्र' और शूद्रक के 'मृच्छ कटिकम्' की रचना क्रमशः तत्कालीन बंसतोत्सव, विजय पर्व, पुत्रोत्सव अथवा कौमुदी महोत्सव और मदनोत्सव के लिए हुई थी। इन नाटकों में परिव्याप्त रंगमंचीय शैली तथा मंचानुरूप संवाद एवं कथ्य, प्रेक्षकों को भाव—विभोर करने में समर्थ हैं।¹⁴ स्वयं कालीदास नाटक को चाक्षुक यज्ञ मानते हैं। संस्कृत रंगमंच में भोजन, शयन, मृत्यु, यात्रा, युद्ध, वस्त्र—धारण तथा चुम्बन जैसे अप्रिय तथा अभद्र व्यवहार निषिद्ध हैं। संस्कृत रंगमंच में चमत्कार प्रदर्शन का महत्वपूर्ण स्थान था।

संस्कृत रंगमंच में दो प्रकार की निश्चित नाट्य धर्मिताएँ थीं।

1. नाट्यधर्मी
2. लोकधर्मी

1. **नाट्यधर्मीः**— इसे साधारणतः नृत्य नाटक भी कहते हैं। भरत का सारा नाट्य शास्त्र नाट्यधर्मी रूढ़ियों का ही विशाल ग्रंथ है।

2. **लोकधर्मीः**— जो स्वाभाविक मानव स्वभाव है वह लोकधर्मी के अंतर्गत आता है। इस नाट्य परम्परा का प्रधान लक्षण है स्वाभाविक ढंग से प्रकट किया जाना। लोकधर्मी नाट्य परम्पराओं की प्रेरणाभूमि लोक—जीवन होता है। यहां जन आनन्दोल्लास सहज रूप में व्यक्त होता है।¹⁵ डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल लिखते हैं— “संस्कृत रंगमंच में नाट्य धर्मी और लोकधर्मी इन दो विभिन्न नाट्य धर्मिताओं के फलस्वरूप इसका रंगमंच कला और सहज जीवन इन दो विभिन्न मूल्य स्तरों तथा रंग क्षेत्रों से विराट संबंध रहा है।” इसमें संदेह नहीं कि संस्कृत में नाट्य के विविध अवयवों का अत्यंत सूक्ष्म क्रमबद्ध तथा विस्तृत विवेचन हुआ है। रंगमंचीय दृष्टि से इसमें संगीत, नृत्य तथा कल्पनाशीलता के भरपूर प्रयोग होता है साथ ही समकालीन रंगकर्म को एक नई दिशा और दृष्टि भी दे रहा है।

“कालिदास अकादमी, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ जैसे अनेक मंच भी हैं। हमारे देश के संस्कृतज्ञ लगातार संस्कृत रंगमंच को अपनी तरह से आगे बढ़ा रहे हैं। कथा मंचन की जो परंपरा विकसित हुई है और जो अब उपन्यास पर आधारित नाटक खेले जा रहे हैं, इन सब नए प्रयोगों द्वारा भी नए लोकोन्मुख पात्रों को स्थापित किया जा रहा है। संस्कृत नाटकों में भी पात्रानुसार, आवश्यकतानुसार संस्कृत के साथ—साथ संस्कृतेर भाषाओं का प्रयोग कराना चाहिए यही भरत का मत था। स्थानीय बोलियों का भी प्रयोग यदि किया जाये तो संस्कृत नाटक प्रयोग परंपरा में और निखर आ सकेगा। मुख्य पात्र नायक—नायिका आदि मंच पर संस्कृत में संवाद करें किन्तु अन्य सहायक पात्र प्राकृत के स्थान पर हिन्दी, मराठी, बांग्ला, मलयालम, पंजाबी, गुजराती आदि भाषाओं में अथवा अवधी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, बुन्देली, हरियाणवी जैसी बोलियों का प्रयोग करें तो इससे संस्कृत नाटक और संस्कृत रंगमंच का और अधिक विस्तार हो सकता है।”¹⁶

साहित्य के इतिहास में यह कहा जाता रहा है कि संस्कृत के गौरवपूर्ण रंगमंच के बाद विविध राजनीतिक और सामाजिक कारणों से रंगमंच की परंपरा लुप्त हो गई और सैकड़ों वर्षों तक भारत में रंगमंच नहीं रहा। 19 वीं शताब्दी से विदेशी शासन के समय में रंगमंच की अस्मिता पर ही प्रश्न चिह्न लग गया क्योंकि उन्नीसवीं सदी से जो रंगमंच शहरों में उभर कर आया उसका रूप विदेशीपन से आक्रांत था और उसकी जड़े हमारी परंपरा में नहीं थी यह प्रश्न सहज ही उठता है कि भारतीय रंगमंच की जीवंत परंपरा सहसा निष्प्राण कैसे हो गई ?

आधुनिक भाषाओं में नाट्य प्रयोग की यह परंपरा विभिन्न भाषाओं और विभिन्न नाट्य शैलियों के साहचर्य में विकसित हुई, और आगे भी विकासमान है। संस्कृत रंगमंच पर भी दुनिया भर के तकनीकी विज्ञान का प्रभाव पड़ रहा है। आजकल कथा मंचन और उपन्यास मंचन की नई रंगचर्या हिन्दी भाषा में चल पड़ी है। संस्कृत भाषा में नए नाटकों का अभाव नहीं है। फिर भी आधुनिकता के अनुरूप संस्कृत रंगमंच को राष्ट्रीय स्तर पर विकसित करने की आवश्यकता है। संस्कृत भाषा का विकास संभव है। समतावादी मानवीय—धर्म और दर्शन आज हमारे समाज की आवश्यकता है। भरत का सच्चा शिष्य रंगमंच पर या कि जीवन में भी जाति—धर्म—भाषा—लिंग—वेश आदि के आधार किसी मनुष्य के साथ भेदभाव नहीं कर सकता। यदि

कोई ऐसा करता है तो वह भरत-नाट्यशास्त्र का विधार्थी नहीं हो सकता। भरत के रंगमंच और उस विशाल परंपरा में जिस लोकोन्मुख आज की कल्पना की गयी है वह दुनिया के किसी भी समाज के लिये आदर्श है।

“स्वतंत्रता के बाद जब से भारतीय रंगमंच का स्वतंत्र विकास प्रारंभ हुआ है तभी से संस्कृत नाटकों और पारंपरिक रंगमंच की ओर रंगकर्मियों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। इस अवधि में लगभग सभी संस्कृत नाटक प्रस्तुत किये गये हैं और अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन नाटकों के प्रस्तुतीकरण में रंगकर्मियों ने क्लासिकी रंगमंच की रंगदृष्टि और व्यवहार खोजने का निरंतर प्रयत्न किया है तथा अपने प्रदेश के पारंपरिक रंगमंच के व्यवहारों से उन्हें जोड़कर उनके सफल प्रदर्शन किये हैं। यहीं इनकी विशेषता है क्योंकि स्वतंत्रता के पहले संस्कृत नाटकों या उनके भाषानुवादों की प्रस्तुतियाँ तो होती थीं परंतु, उनके रंगव्यवहार या तो पारसी थियेटर नुमा होते थे या पाश्चात्य यथार्थवादी शैली में। इतना ही नहीं आधुनिक भारतीय भाषाओं के समकालीन नाट्यलेखन और रंगप्रयोगों के अध्ययन से पता चलता है कि समकालीन रंगमंच का बड़ा प्रायोगिक, कलात्मक और सास्वान् काम क्लासिकी तथा पारंपरिक रंगमंच से प्रेरित और अनुप्रमाणित है। शताब्दियों की रंगयात्रा में हमारे पारंपरिक और समकालीन रंगमंच में रंगव्यवहारों का यह साक्ष्य क्लासिकी रंगमंच से जुड़ता है और आज के लिए सार्थक बनाता है।”¹⁷

पंतजलि के ‘महाभाष्य’ में कंसवध और ‘बालिवध’ नाटकों का प्रमाण मिलता है। बाल्मीकी रामायण में नट, नर्तक, संगीत आदि का उल्लेख मिलता है। ‘महाभारत’ के हरिवंश पर्व, विराट पर्व, वन पर्व में नृत्य, नाट्य और संगीत का उल्लेख मिलता है।

संस्कृत नाटकों में प्राकृतिक चित्रों का बाहुल्य है। इनका उद्देश्य रसानुभूति तथा लोकधर्म की शिक्षा देना है। संस्कृत रंगमंच में पूरा ध्यान अभिनय पर केन्द्रित किया गया है इनमें मूर्छा के दृश्य अधिक होते हैं। संस्कृत रंगमंच भारतीय प्राण तत्वों को उभारती है। इनमें जीवन का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति माना गया है। संस्कृत नाटकों की महत्ता इनके प्रबल काव्यात्मक और अभिनयात्मक पक्ष में है। संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना से यह स्पष्ट होता है कि नाटक अभिनय के लिये लिखे जाते थे जो नाट्य-ग्रहों में प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ प्रस्तुत होते थे। ‘नाट्यशास्त्र’ में यह स्पष्ट होता है कि भरत ने अपना नाट्य-प्रयोग ‘महेन्द्र ध्वज’ उत्सव के अवसर पर अभिनीत किया था। इसके विषय में नंदीकेश्वर के ‘अभिनय दर्पण’ में स्पष्ट निर्देश दिया गया है जिसमें विवाह, पुत्र-जन्म, गृह प्रवेश, अभिषेक, यात्रा तथा किसी विशेष उत्सवों पर नाटक अभिनीत किये जाते थे। इनके अतिरिक्त वास्तुकला के एक प्राचीन ग्रंथ ‘समरांगण सूत्रधार’ में नाट्यमंडपों का उल्लेख मिलता है। जिससे स्पष्ट है कि बड़े-बड़े मंदिरों में नाट्य मंडप हुआ करते थे। जो कभी-2 विशेष अवसरों के लिये बनाये जाते थे।

‘भारत की रंगमंच कला बड़ी प्राचीन है। भरत के द्वारा अपने सौ शिष्यों को नाट्य शिक्षा देने का वर्णन विद्वानों ने किया है।’¹⁸ संस्कृत रंगमंच हेतु दृश्य परिवर्तन की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती थी क्योंकि संस्कृत नाट्य प्रदर्शनों में ‘सूच्य’ कथा वस्तु का बहुत प्रयोग होता था।¹⁹

“संस्कृत नाटक शब्दों के जादू पर समृद्ध हुआ और उसने कथानक और चरित्र की अपेक्षा तरल कवित्वमय प्रतीकों तथा संगीत और नृत्य की बाह्य युक्तियों को अधिक प्रमुखता दी। भाषाई

रचनाएं नाटकीय कम और संगीतमय अधिक थी जिनका निर्माण जान-बूझकर एक 'रस' अथवा मनोदशा की निष्पत्ति करने के लिये हुआ था।²⁰

“संस्कृत नाटकों में ऐसे अनेक तत्व मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि तत्कालीन नाटककार अच्छे अभिनेता भी थे। डॉ. राम विलास शर्मा के लेख से भी भरत का निर्देशक होने की पुष्टि होती है। उन्होंने लिखा है स्वयं वाल्मीकि नाटक लिखते हैं जो 'उत्तर रामचरित' के अंतिम अंक में खेला जाता है जिसके दर्शकों में श्री राम, सीताजी, लव, कुश, लक्ष्मण, जनक, कौशिल्या आदि हैं, उसके निर्देशक हैं भरत मुनि।”²¹

संस्कृत नाटक जिस वैविध्य, आनंद और परिष्कार की ओर ले जाता है उसमें संगीत की बहुत बड़ी भूमिका है। उत्सव धर्मिता विभिन्न रागों का ऋतुओं, उत्सवों, समय ओर भावों से रस से संबंध नाटककार मानकर चलते हैं—ताल, लय, नृत्य, वाद्य—वादन, गीत का शास्त्रीय विधान एक सम्पूर्ण सौंदर्यशास्त्र रचता है जो बहुत समृद्ध ओर गंभीर, सार्थक, सर्जनात्मक है। सूत्रधार, नट—नटी आदि के द्वारा मंगलाचरण गायन, नान्दीपाठ एक ऐसी सौन्दर्य—सृष्टि करता है और उससे पूर्वराग विधान रंगशाला में ऐसे वातावरण की रचना करता है, प्रेक्षक की मनोभूमि तैयार करता है कि हम एक भिन्न लोक में ही पहुंच जाते हैं। यह संगीत और विधान प्रेक्षक को आकृष्ट ही नहीं करता नाटक के विषय से सम्बन्धित वातावरण की ओर भी ले जाते हैं। 'वेणीसंहार' नाटक में संगीत आरंभ करने के लिए सूत्रधार की आज्ञा होने पर परिपार्श्विक पूछता है—'कतयं समयमायित्य गीयताम्' अर्थात् किस ऋतु के आधार पर गाया जाए? ये सभी प्रयोग ऋतु, समय, संगीत के आंतरिक संबंध को भी व्यक्त करते हैं और 'नाट्य प्रयोग' में यह स्वतंत्रता भी देते हैं कि सूत्रधार आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी कर सके। यह भी विशेष बात है कि संस्कृत नाटक में नृत्य और वादन का प्रयोग अधिक है, गीतों का कम।²²

संस्कृत रंगमंच मूलतः काव्यात्मक रंगमंच है इसीलिए उसमें भावानुकीर्तन, भावधर्मिता का, संवेदना का वैशिष्ट्य है। यह काव्य समग्र रचना से, अभिनय से, संगीत से, भाषा से सृजित होता है। रस निष्पत्ति सम्बंधी सारी दृष्टि नाट्य पर ही आधारित है।

संस्कृत रंगमंच की प्रासंगिकता:—

कला के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी को नाट्यशास्त्र की शताब्दी कहा जा सकता है, तो आजादी के बाद के दशकों में संस्कृत नाटक लगातार भारतीय रंगमंच के केन्द्र में आता हुआ लगता है। विश्व रंगमंच पर भी संस्कृत नाटक ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका प्रकट की है। भारत में तो निश्चित रूप से संस्कृत रंगमंच ने पिछले कुछ दशकों में हमारे रंगमंच को पश्चिमी यर्थाथवादी रंगपरम्परा के चौखटे से बाहर निकल कर तथा पारसी रंगमंच की सीमाओं को भी लांघ कर नए सिरे से अपनी पहचान बनाने के उपक्रम में मदद की है।

कला की किसी महान् परम्परा की अलग—अलग समयों में प्रासंगिकता उसकी इसी प्राणवक्ता और गतिशीलता पर सत्यापित हो सकती है कि हर युग में उसका नवाविष्कार होता चलता है। इस प्रक्रिया में उस महान् परम्परा के अब तक अप्रकट या अल्पज्ञात या उपेक्षित आयाम भी खुल सकते हैं। संस्कृत नाटक के साथ हमारे समय के श्रेष्ठ रंगकर्मियों ने जो

रचनात्मक साक्षात्कार किया, उसके कारण इस नाटक की रंगमंच से जुड़ी वैविध्यमय परम्परा को हमने पहचाना तथा इसी क्रम में नाटक की सौन्दर्य शास्त्रीय व्याख्या और पुनर्व्याख्या का वह सिलसिला और आगे बढ़ा जिसकी शुरुआत भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में की थी। नयी पहचान या पुनर्व्याख्या के इस क्रम में अनेक अल्पज्ञात या अज्ञात नाटकों के आलेख रंगमंच पर खेले गये, या भारतीय रंगमंच की समग्र परम्परा में संस्कृत नाटक का आंकलन किया गया।

भारतीय रंगमंच पर दो प्रकार की नाट्य धाराएं निरंतर प्रवाहमान रही— एक उदात्त और अभिजन का रंगमंच था; तो दूसरा परिवर्तन का रंगमंच। डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी इन्हीं को आस्वाद का रंगमंच और जागरूकता का रंगमंच (थियेटर ऑफ अवेयरनेस) कहते हैं। वास्तव में तो इन दोनों धाराओं के साथ बहती आयी अनेक उपधाराओं बीच-बीच में होते उनके संगमों, उनके बीच बनते आवर्तों, संकुलों और सम्प्लवों में समग्र भारतीय रंगमंच की परम्परा अवधारणा प्रतिफलित हुई है। स्वयं भरतमुनि नाट्य परम्परा का उद्भव बताते हुये कहते हैं कि नाटक जैसी सम्पूर्ण विद्या से प्रयोक्तागत अन्यान्य रूपक प्रकारों को जन्म दे सकते हैं। भरतमुनि के आशय को स्फुट करते हुये अभिनव गुप्त कहते हैं कि नाटक और प्रकरण न केवल सारे रूपक भेदों में प्रधान है, इनमें से एक के भीतर हम सारे रूपकों को देख सकते हैं।²³

संस्कृत रंगमंच में नृत्य एवं संगीत:—

संगीत एवं नृत्य सदैव से ही व्यक्तिगत एवं सामाजिक मनोरंजन तथा आनंदानुभूति का साधन रहे हैं। तथा मानव मन की भावनाओं को अभिव्यक्त करने का अति सहज, सरल और सशक्त उपाय भी, इसीलिए प्रायः प्रत्येक सभ्यता/संस्कृतियों में इनका सम्मानीय स्थान रहा है। भारत वर्ष में प्रागैतिहासिक काल से ही नृत्य एवं संगीत की परम्परा की खोज की जा सकती है। सामवेद में भारतीय संगीत का लोक एवं शास्त्रीय रूप दृष्टिगोचर होता है।²⁴ प्राचीन कालीन एवं मध्य कालीन संस्कृत नाटकों के कई प्रसंगों में नृत्य-संगीत मिले-जुले रूप में दृष्टिगोचर होते हैं तो कई नाटकों में ये शब्द एक-दूसरे के समानार्थक रूप में भी प्रयोग में लाये गये हैं। कालीदास ने संगीत, नृत्य, नाट्य शब्दों का समानार्थक रूप में ही अधिकतर प्रयोग किया है। जैसे—मालविका का ललित नृत्य नाट्य भी है, और गायन-वादन अभिनय का समन्वित रूप भी।

वर्तमान काल में संगीत गायन, वादन कलाओं का ही बोधक है क्योंकि नृत्य का एक स्वतंत्र कला के रूप में विकास हुआ है। प्रस्तुत शोध पत्र में आधुनिक संस्कृत नाटकों से गीत-वाद्य-नृत्य तीनों कलाओं के उदाहरण लिये गये हैं परंतु गीत-वाद्य को संगीत शब्द के अंतर्गत लिया गया है और नृत्य के लिए नृत्य शब्द का ही प्रयोग हुआ है। अभिनय के साथ ही संस्कृत नाटक नृत्य एवं संगीत से भी गहन संबंध रखता है। यदि यह कहा जाए कि संस्कृत-नाटकों से नृत्य एवं संगीत चोली-दामन का साथ निभाते हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। नाट्यशास्त्र एवं अन्य ग्रंथों के अध्ययन से भी यही स्पष्ट ज्ञात होता है कि संस्कृत-नाटकों में नृत्य एवं संगीत के समावेश के दो विशेष कारण रहे हैं।

1. नृत्य एवं संगीत कला में लोक संस्कृति, साहित्य व धर्म की समन्वयात्मक उपस्थिति तथा

2. नाटक के मंचन की सफलता।

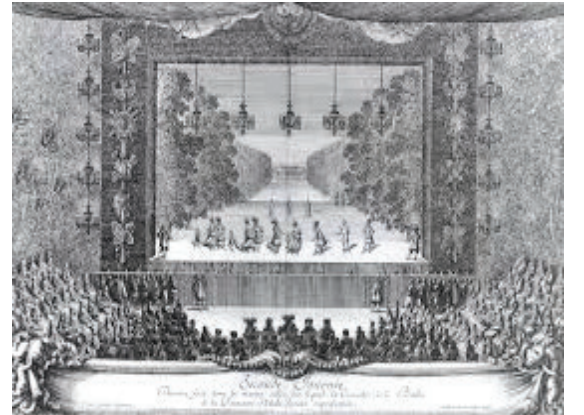
संस्कृत नाटकों में नृत्य-संगीत ने विभिन्न रूपों में उद्भासित होकर कोटि-कोटि मानस के प्राणों में नवीन चेतना का संचार कर लौकिक एवं ब्रह्मानंद का साक्षात्कार करवाया है।

उपर्युक्त अन्य सभी बातों को देखते हुये संस्कृत रंगमंच की सारी परिकल्पना काव्यात्मक थी और इसलिए उसका बल रस निष्पत्ति पर दिखाई देता है। कुल मिलाकर रंग-परम्परा में रंगमंच अभिनेता का होता था और दृश्य-सज्जा आदि की सूचना अभिनय से ही दी जाती थी। नाटक क्रिया-व्यापार में प्रयुक्त स्थ, यान, पर्वत, पशु-पक्षी आदि सामग्री को आहार्य-विधि से प्रस्तुत किया जाता था। संस्कृत रंग-परम्परा उन लक्ष्यों को उभारती है जो भारतीय संस्कृति के प्राण तत्व है। इसमें अधिभौतिक और आध्यात्मिक तत्व की महत्ता के कारण भारतीय हिन्दी रंगमंच और नाटक का मूल स्वर संघर्ष का न होकर प्राप्ति का है। नाटक का कार्य अवस्थाएं आरंभ और प्रयत्न से शुरू होकर प्रत्याशा, नियप्ताप्ति से होते हुए फलांगम की ओर अग्रसर होती है। इसमें जीवन का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति माना गया है। मुख्य बात यह है कि संस्कृत रंग-परम्परा का मंच सम्पूर्ण रंगमंच है। क्योंकि वह अपना सम्पूर्ण प्रभाव दर्शक वर्ग को सम्प्रेरित करने के लिये अपने अभिनेताओं से विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की अपेक्षा रखता है।

2.3 पारसी रंगमंच

संस्कृत रंगमंच के अतिरिक्त एक तीसरी नाट्यधारा पारसी नाटक और रंगमंच की थी, जिसे पारसी थियेटर भी कहा जाता है। 'क्रमबद्ध रूप से पारसी रंगमंच काल सन् 1874 से 1940 तक का है।²⁵ यह काल हिन्दी रंगमंच का विकास युग था लेकिन दुर्भाग्यवश साहित्यिक रंगमंच का विकास नहीं हो पाया। पारसी रंगमंच का उदय यूरोपियन क्लबों के रंग प्रयोगों से प्रेरणा लेकर हुआ था।

दूसरे शब्दों में पारसी रंगमंच एक ऐसा रंगमंच है। जिसमें पारसी रंग कर्मियों द्वारा अपनी रंगकला का अभिनय मंच पर किया जाता है, जो पारसी कलाकारों द्वारा व्यावसायिक रंग कंपनियों के रूप में स्थापित हुआ जिसका पारसी रंगमंच, रंगकला से अनुप्रमाणित है। पारसी थियेटर का मूलभूत उद्देश्य सत्ता मनोरंजन देकर धन कमाना था।²⁶ पारसी रंगमंच का आरंभ गुजराती भाषा से हुआ था। पारसी रंगमंच मनोरंजक, लौकिक होने के साथ-साथ श्रृंगारिक, बनावटीपन से युक्त तथा उपदेश देने वाला भी था।



पारसी थियेटर

भारतीय रंग-यात्रा में पारसी रंगमंच, विरोधी दिशा में बहने वाली नदियों का ऐसा अपूर्व संगम है। जहां पूर्व-पश्चिम, शास्त्रीय और लोक व्यावसायिक और पुनरुत्थानवादी तथा राष्ट्रीय और रोमनी चेतनायें परस्पर धुलमिलकर एक अजब रूप और अंदाज में हमारे सामने आयीं थीं। उस समय जहां एक ओर राष्ट्रीय चेतना व प्राचीन इतिहास-पुराण के गौरव की भावना तीव्र हो रही थी, वहीं दूसरी ओर धर्मनिष्ठ हिन्दू जनता को जो आर्य समाज और अन्य सुधारवादी आंदोलनों के कारण धर से बाहर निकली थी, उन्हें अपने गौरवपूर्ण चरित्र और महान् आख्यान देखने में भी रुचि थी। इनमें कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर, दिल्ली आदि नगरों के गांवों-कस्बों से आये हुए मजदूर, मिस्त्री और बाबू लोग विशेष थे। उन्हें मनोरंजन के लिये ऐसे रंगमंच की आवश्यकता थी, जो कि लौकिक होने के साथ-साथ श्रृंगारिक भी हो। इसी समय बंबई और कलकत्ता में अनेक नाट्य-गृह बनाये गये। बंबई में 1849 में ग्रांड रोड पर बंबई, थियेटर, रंगमंच बनाया गया, जिसमें सभी हिन्दुस्तानी मिलकर नाटक अभिनीत करते थे। इसके पश्चात् कुछ दिनों बाद 1853 में एक कंपनी 'हिन्दू ड्रेमेटिक कोर' की स्थापना हुई, जिसमें एक मराठी ड्रामा, फिर गुजराती ड्रामा फिर उर्दू नाटक अभिनीत हुये। इसके पश्चात् 'राजा गोपीचन्द्र' अभिनीत किया गया। यह नाटक शेरों-शायरी से पूर्ण एक ओपेरा था। इस रंगमंच पर निर्देशक से लेकर मैकपमेन तक तथा संपूर्ण रंग-शिल्प-विद्यान और प्रस्तुतिकरण के लिये अंग्रेज ही कार्यरत थे, साथ ही वे अभिनेता की भूमिका भी निभाते थे। अंग्रेजों की इस तिजारती बात को भारत में आये पारसियों ने पकड़ा और इस व्यवसायी कौम ने एक के बाद एक कम्पनियों को स्थापित करना शुरू किया। इस तरह पारसी थियेटर किसी रंगमंच विशेष का नाम न होकर उन थियेटर कम्पनियों का नाम है, जिनके मालिक पारसी लोग थे।

पारसी रंगमंच का विद्यान:— पारसी रंगमंच का विद्यान युक्तिपूर्ण और योजनाबद्ध होता था। उसमें मंच के लिये चोर दरबाजे तथा गुप्त गढ़ होते थे ताकि किसी स्थान पर देवता अचानक प्रकट हो सके।²⁷ रंगमंच पर पृष्ठभूमि में शोख पर्दा लगाया जाता था। रंगमंच के अभिनेता वैतनिक, चेहरा दुरस्त, छोटे कद तथा नाचगान और तलवार चलाने में कुशल होते थे। स्त्री पात्रों का अभिनय भी पुरुष पात्र लंबे बाल रखकर ही करते थे। प्रत्येक रंग-प्रस्तुति में प्रहसन वाला पात्र भी होता था। पारसी रंगमण्डली के पास निर्देशक प्रबन्धक और नाटककार अनिवार्य रूप से होते थे। नाटक के बीच में नृत्य और चित्र की झांकी की योजना बनाई जाती थी। इसमें दृश्य सजा महत्वपूर्ण थी तथा भड़कीले व चमकीले, चमत्कारित कर देने वाले दृश्यों की भरमार रहती थी। नाट्याभिनय के साथ अश्लील प्रेम, चुम्बन, व भद्दे मजाकों की भरमार रहती थी जिसे देखकर दर्शक वाहवाही में तालियों की गड़गड़ाहट कर बैठते थे।²⁸ नृत्य-संगीत प्रमुख था। प्रारंभ में पारसी रंगमंच में मंचीय प्रकाश व्यवस्था विकसित नहीं थी, मंचीय प्रबंधक यह कार्य करता था, शनैः शनैः पारसी थियेटरों में विद्युत प्रकाश का भी उपयोग किया जाने लगा। नेपथ्य में ध्वनि-वाद्य-संगीत ध्वनियों के प्रसारण की कला मंच पर विकसित नहीं थी, आकाश भाषित का उपयोग होता था। इसके उत्कर्ष काल में निर्देशक, अभिनेता संगीत की धुनें तैयार करता था जो दर्शकों और श्रोताओं के मनोरंजन का एक प्रमुख साधन था। पारसी कम्पनियों का काल रंगमंच का स्वर्ण काल था।²⁹

पारसी रंगमंच पहले गुजराती मंच कहलाता था, तथा ये लोग गुजराती भाषी ही थे। बाद में इस रंगमंच में हिन्दी, उर्दू नाटक भी खेले जाने लगे, जिसमें अनेक शौकिया पारसी नाटक मण्डलियां बनी स्कूल कॉलेजों के अंग्रेजी पारसी मंचों को देखकर नवयुवकों ने पहली पारसी मण्डली 1852 में स्थापित की थी इसके बाद 1853 से लेकर 1869 तक अनेक नाटक कंपनियों अस्तित्व में आयी। तत्पश्चात् 1870 में 'पेस्टन पराम' बम्बई में 'ओरिजनल थियेट्रिकल कंपनियों की स्थापना हिन्दी, उर्दू नाट्याभिनय के लिये की गई।

पारसी रंगमंच के दो प्रकार थे। एक स्थायी थियेटर के रूप में जो भिन्न-2 कंपनियों के नाम से जाने जाते थे। दूसरे अस्थायी मंच जो विविध उपकरणों की सहायता से बना लिये जाते थे। इन अस्थायी मंच के उपकरणों को साथ लिये नाटक मंडलियां यात्रा करती थी। पारसी मंच का निर्माण अंग्रेजी मंच के आधार पर हुआ था। पारसी कंपनियों ने अपने रंगमंच के तकनीकी को अंग्रेजी रंगमंच के आधार पर निर्मित किया था, जो शेक्सपियर कालीन रंगमंच के आधार पर था।³⁰

पारसी रंगमंच अर्थात् पारसी थियेटर विलायती अर्थात् शेक्सपियर कालीन रंगमंच की नकल थी परंतु गीत-संगीत-नृत्य पूर्णतः भारतीय। विलायती नाटकों में संगीत नहीं था। पारसी रंगमंच ने भारतीय लोक-नाट्यों से संगीत तत्व प्राप्त किए। गीत और शेर उसमें प्रमुख था जो शिक्षित समाज पर छा गया था।³¹ पारसी रंगमंच में गायकों की संगत के लिए कोई लम्बा-चौड़ा आर्केस्ट्रा नहीं था। एक अच्छा-सा ऑर्गन (हारमोनियम), जिसकी धौंकनी पैरों से चलती थी और वादक दोनों हाथों से सुरों को निकलता था, कुछ अवनद्ध और धन वाद्य नगाड़ा, तबला, झांझ, मंजीरा आदि बस यही था तथा कथित आर्केस्ट्रा। महिला कलाकारों की आवाज में भी कसाव था, ठहराव था, हरकतें थीं, और अभिव्यंजना थी। वाल्यूम (Volume) तो था ही, बारीक खटके, मुर्की, गमक का प्रयोग बड़ी खूबसूरती से होता था। प्रतिभा का ऐसा समुचित विकास वर्षों के अथक परिश्रम से ही आता है।³²

पारसी रंगमंच का उदय शहर में हुआ। इसलिए इसमें जो अपार दर्शक वर्ग आया, वह मूलतः शहर का था या गांव से शहर में आया हुआ दर्शक वर्ग था। अब तक अच्छा संगीत सुनने का सौभाग्य केवल शहर के कुछ इने-गिने रहीसों और गण्यमान्य व्यक्तियों को ही मिलता रहा और राग ताल में निबद्ध संगीत को सुनना आभिजात्य का एक लक्षण भी था। इसलिए जब पारसी रंगमंच में शहर का यह दर्शक वर्ग आया तो पारसी रंगमंच-कर्मी, नाटककार और निर्देशक के लिए यह आवश्यक हो गया कि शहर के इस दर्शक वर्ग को उसी की रूचि के अनुकूल नाटकों में संगीत का तत्व विद्यमान करे। यह भी सच है कि दर्शक वर्ग के मनप्राण की यह परम्परा और उसकी प्रकृति यह रही है कि उसके मनोरंजन का प्रमुख भाग किसी न किसी प्रकार से संगीत और नृत्य रहा है। बिना इसके उसका मनोरंजन कभी भी संपूर्ण नहीं होता। पारसी रंगमंच बुनियादी तौर पर उस समय भारतवर्ष की पुनरुत्थानवादी और राष्ट्रीय धारा से जुड़ा था। इसलिए भी पारसी रंगमंच के नाटककारों ने जिस तरह के पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और धार्मिक नाटकों की रचना की और उनमें जिस प्रकार के उपदेशों, आदर्शों की स्थापना करनी चाही, उसके लिये भी परम्परावादी शास्त्रीय संगीत सहज और उपयुक्त था।

पारसी रंगमंच ने राष्ट्रीय और जातीय गौरव संबंधी नाटकों का प्रस्तुतिकरण किया। इसका प्रभाव हिन्दी रंगमंच पर पड़ा लेकिन कुछ दोषों के कारण इसको इतना महत्व नहीं मिला जितने का यह अधिकारी था। पारसी रंगमंच के विशाल रंग-संसार को यद्यपि असाहित्यिक मानकर उसकी उपेक्षा ही नहीं की गई, अपितु समूची रंग-दृष्टि को अहिन्दी समझकर, क्षेत्र से बाहर निकाल दिया गया और उस युग के समकालीन नाटककारों ने पारसी रंग-परम्परा की डटकर आलोचना की और उसे अनदेखा कर दिया, किन्तु पारसी रंगमंच ने हिन्दी रंगमंच को विकसित करने के लिए एक वातावरण तैयार किया। इसी से प्रेरित होकर भारतीय भाषाओं के रंगमंचों को विकसित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ, वहीं इसके विरोध में इनके समकालीन नाटककारों ने साहित्यिक रंगमंच की स्थापना कर उसे विकसित भी किया।

“प्लासी के युद्ध से पहले ही अंग्रेजों ने अपना थियेटर शुरू कर दिया था। हांलाकि गिरीश चन्द्र धोष के समय तक बंगाली रंगमंच सक्रिय हो चुका था, उसने अंग्रेजी रंगमंच से बहुत कुछ हासिल किया था। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक बम्बई में भी थियेटर स्थापित हो चुका था, जहां अंग्रेजी और यूरोपियन शैकिया रूप से अभिनय में हिस्सा लेते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में तो मराठी रंगमंच पनप चुका था। (‘उन्नीसवीं सदी के अंत में ईरान से भागकर बम्बई में पारसी आ बसे’) ³³ जब पारसियों का ध्यान इस मनोरंजन के साधन की ओर गया तो उनको इनमें पैसा दिखाई पड़ा। वे प्रतिभावान तो थे ही, व्यावसायिक मनोवृत्ति भी रखते थे। उन्होंने रंगमंच को व्यापार का साधन बनाया। जो रंगमंच ‘पारसी रंगमंच’ के नाम से स्थापित हुआ, वह शेक्सपीयर कालीन रंगमंच का रूपान्तरण या अनुकरण ही था। उद्देश्य था ‘पैसा’। इसके लिये जो भी सामग्री, हरकत, गाना, नाचना, हाव-भाव विकसित थे, वे सब नाटकों में शामिल किए गए। उन्होंने लोगों की नब्ज पहचानी, जमाने की हवा का रुख देख उन्हें लगा, संगीत-नृत्य का समावेश नाटकों को चमका सकता है। ऐसी हालत में संगीत और नृत्य कभी तो नाटकों के अभिन्न अंग बनकर सामने आए और कभी थोपे हुए अनावश्यक सजावट के रूप में जो नाट्य की विषय वस्तु के प्रवाह में रूकावट डालते थे।”

वैसे देखा जाए जो नाटकों में संगीत की परम्परा बहुत पुरानी है। एच.ए. पोपले ने अपनी पुस्तक ‘द म्यूजिक ऑफ इंडिया में लिखा है—

“The development of drama after kalidas meet the development of music as well as all india drama is operatic the Temple and stage were great schools of Indian music.”

राम बाबू सक्सेना लिखते हैं—

“His defects are precisely those of marlowe intensity rather than delicacy, deep colours and strong contrasts more than time shades are the rule. this tell on refined or sensitive nevers pratically when the most horrible crimes are allowed by the author to be represented on the stage.” ³⁴

राम बाबू सक्सेना फिर लिखते हैं—

“He used his hindi with conscious command and the effect is instantaneous for in songs of lyrics Hindi is infinitely superior to Urdu.”³⁵

इस प्रकार पाश्चात्य रंगमंच के संपर्क में सबसे पहले बंगाल आया और उसने पाश्चात्य थियेटरों के अनुकरण पर अपने नाटकों के लिये रंगमंच को नया रूप दिया। दूसरी ओर बंबई में पारसी लोगों ने इन विदेशी अभिनय शालाओं के अनुकरण पर भारतीय नाटकों के लिए, एक नए ढंग की अभिनयशाला को जन्म दिया। पारसी नाटक कम्पनियों ने रंगमंच को आकर्षक और मनोरंजक बनाकर अपने नाटक उपस्थित किये।

पारसी रंगमंचकालीन संगीत की कुछ सीमाएँ थी। वर्तमान कालीन उन्मुक्त परिवेशी संगीत तब नहीं था। तब न रेडियो था, न संगीत सम्मेलन और न विद्यालय—विश्वविद्यालय, न अकादमी। तब तो संगीत मंदिरों, मजारों, कोठों, रियासतों और ग्रामीण इलाके में था। जो परम्परागत धुनों पर ही गाया—बजाया जाता था। परंतु संगीत प्रत्येक उत्सव में था। दरबारी संगीतज्ञ चहरदीवारी के अन्दर ही संगीत—साधना में लगे रहते। अतः संगीत के गौरव का ध्यान किसी को नहीं रहता जिसका स्पष्ट स्वरूप नाटकों में दृश्यसुलभ था कि कभी—कभी राजा—महाराजा भी (भूमिका करने वाले अभिनेता) नृत्य करते दिखाए जाते। अभिनेता व अभिनेत्री को ही स्वयं गायन भी करना था जो अवश्य ही कठिन था। कभी—2 गीतकार को भी गायक होना आवश्यक हो जाता था।

पारसी रंगमंच का उदय भारतीय नाट्य जगत के लिए अभूतपूर्व उपलब्धि के रूप में हुआ—
“Parsi stage is considered the foundation stone of Gujarati Nataks. Drawing inspiration from the western stage in the nineteenth century, a few art enthusiast parsis marked the beginning of Gujarati stage that took place was ‘Rustom Jabuli and Sohrab’ which was enacted in November 1853 in a theatre at Grand Road where an all-parsi cast performed their roles in parsi style Gujarati. It is said that after watching this initial success other art enthusiasts of diverse Indian origins and languages took the cure and formed their own theatre groups.

As far as Indian’s regional languages are concerned the art-loving Maharashtraian populace’s dramas are by far the most distinctive. But history bears witness that it was only through Parsi Natak Mandalis that they garnered their inspiration seeing Victoria Natak Company’s musical play titled ‘Indra Sabha’, Shree Annasaheb Kirloskar set his sights on scripting and performing such musical plays in Marathi. He felt that the time and market was ripe for such endeavours for the Marathi audience and that such musical plays would be appreciated and would prosper. So, taking his cue from the Parsi Natak, ‘Indra Sabha’, ‘Annasaheb Kirloskar’ scripted and staged his play called ‘Sangeet Shakuntaal’ in 1880 A.D. It is imperative to note that this Marathi Natak’s establishment was 27 long years after the inception of Parsi Dramas. Today even after 125 years, Annasaheb’s original, ‘Shakuntaal’ is still as popular among the Maharashtraians. Close on the heels of ‘Shakuntaal’ countles

Marathi Natak's were scripted and performed gaining much fame and a special place in the Marathi audience's hearts.....

Let us revert back to the subject of Parsi Drama. In 1853 A.D., Shri Nusserwanji Dorabji Appakhatyer, an art-loving Parsi gentleman, with the help of some of his drama enthusiasts and musician friends, presented a musical play in Parsi Gujarati based on western plays. He selected as his subject Firdaushi Tusi's legend 'Rustom-Sohrab' from the 'Shahnama'. Transforming the story from poetry forms into a musical drama embellished it with creative Indian music and directed the drama himself. He also acted in it with much flourish and gained success. This is how the Parsi Gujarati stage originated.”³⁶

2.3.1 रंगमंच की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

संगीत में रंगमंच की ऐतिहासिकता प्राचीन काल से चली आ रही है। रंगमंच कलाभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है। इसकी ओर शिक्षित और अशिक्षित सभी आकृष्ट होते हैं। सामूहिक कला होने के कारण रंगमंच से दर्शकों में भावात्मक एकता स्थापित होती है। इससे दर्शकों का मनोरंजन तो होता है साथ ही यह उनको अपनी सांस्कृतिक परम्परा से भी जोड़ता है और उनके मानस को परिष्कृत करता है। इससे समाज में मानवीय मूल्यों की स्थापना होती है। रंगमंच जीवन को व्यापकता के साथ अभिव्यक्त करता है और इसका प्रभाव भी दर्शकों पर गहरा पड़ता है क्योंकि यह गतिशील कार्य-व्यापार से युक्त है। यह उपभोक्ताओं को कलाकृति से सीधे जोड़ता है। रंगमंच एक व्यावहारिक कला है अतः इसमें समयानुसार अनेक परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए हैं। यदि रंगमंच के विकास पर दृष्टि डाली जाये तो इसके अनेक रूप देखने को मिलते हैं। रंगमंच के दो रूप समानान्तर विकसित हुए हैं- एक परिनिष्ठित रंगमंच और दूसरा लोक रंगमंच। वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ रंगमंच का भी पर्याप्त विकास हुआ है। समय के अनुसार नाटक का कथ्य और रूप बदलता है और उसी के अनुसार रंगमंच भी परिवर्तित होता है। साज-सज्जा भी देश-काल के अनुसार बदलती है।

यह सही है कि भारतीय रंगमंच की परम्परा और इतिहास विश्व में संभवतः सबसे ज्यादा प्राचीन है, लेकिन वह इतने उतार-चढ़ाव के बीच से होकर गुजरा है कि आज उसकी पहचान क्या हो सकती है- इसी को लेकर विचार-विमर्श जारी है। नाट्यशास्त्र पर आधारित संस्कृत नाटकों के मंचन का लगभग 800-1000 ई. तक लोक रंगमंच के रूप में देश के अलग-अलग भागों में, अलग-अलग बोलियों-भाषाओं में एक दूसरी धारा से साक्षात्कार होता है विशेषतः पिछले

पचास वर्षों में तो भारतीय रंगमंच का अद्भुत विकास और परीक्षण हुआ है कि किसी नियमित परम्परा की अनुपस्थिति में भी उसकी तुलना विश्व के किसी देश के विकसित से विकसित रंगमंच से की जा सकती है।

भरतकृति नाट्य शास्त्र में 'थियेटर' की भूमिका

'नाट्यशास्त्र' ने जिस नृत्य का विवेचन किया है। वह अपने आप में किसी कला अथवा शिल्प की स्वतंत्र इकाई नहीं है। भरत मुनि की कल्पना का नृत्त, और नृत्य कला की स्वतंत्र विधान होकर प्रदर्शन के अंग है और प्रदर्शन को वह अभिनय कहते हैं।

'नाट्यशास्त्र' में अभिनय शब्द का अर्थ 'ऐक्टिंग' न होकर कुछ और है। अभिनय का जैसा व्यापक अर्थ नाट्यशास्त्र में देखने को मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है वहां अभिनय का अर्थ है—रंगमंच का सम्पूर्ण प्रदर्शन। शास्त्र में अभिनय के अनेक भेद और उपभेद हैं। आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। शुद्ध अभिनय और चित्रसंज्ञक अभिनय, सुकुमार अभिनय और आविद्ध अभिनय, सामान्य अभिनय और तन्मात्राओं को अभिनय आदि। नृत्य, नृत्त और नाट्य ये तीन अभिनय के मुख्य तत्व हैं। जिनके संयोग से अभिनय का निर्माण होता है।

'नृत्य' इस प्रदर्शन का प्रथम चरण है। नृत्त द्वितीय और नाट्य तृतीय। इन तीनों तत्वों का दृश्यशील रूप है। अतः 'नाट्यशास्त्र' में जब अभिनय प्रयोग आरंभ होता है, तब भरतमुनि इन्हें इस क्रम से दर्शकों के समक्ष लाता है। उनके प्रयोग का मूल आरंभ उत्पादन नामक क्रिया से होता है। उत्पादन क्रिया, उसके प्रदर्शन के प्रारंभ में सम्पादित होने वाले पूर्वरंग, की बाईस क्रियाओं में से प्रथम है। वह कहता है कि उत्थापन क्रिया, का प्रारंभ करते हुए सर्व प्रथम भाण्ड—वाद्य बजाने चाहिये। भाण्ड—वाद्यों में पणव नगाड़ा, मृदंग, ढोल जैसे वाद्य सम्मिलित हैं। खालों से मढ़े हुए कई वाद्यों के धोर गर्जन से वह दर्शकों का ध्यान और उनकी मानसिक चेतना को मंच पर केन्द्रित करके, मंच के कार्य—व्यापार में एक भूत कर देना चाहता है। भाण्ड—वाद्यों के गह्वर निनाद से वह सारे वातावरण की ध्वनि तरंगों के धनत्व को झंकृत करके आस—पास के समस्त बराबर जीवों, पुरुष, पशु प्रकृति की चेतना के उस बिन्दु पर केन्द्रित कर देता है, जहाँ से प्रदर्शन की भावी मनोमय कला का शुभारंभ होता है।

पश्चात् वह कहते हैं कि आसारित विधि का प्रयोग करना चाहिए इसके संबंध में शास्त्रकार का कथन है कि पणव की ध्वनि समाप्त भी न हो पाये कि वीणा, रूद्र, शंख, दुर्दर, विपंची तथा चित्रा आदि वाद्यों द्वारा स्वर लहरी अर्थात् आरकेस्ट्रा प्रारंभ कर देना चाहिये। इसके बाद वह नेपथ्य में नर्तकी की तैयार खड़ा रहता है और कुछ क्षण बाद ही प्रेक्षकगृह में उसके नूपुरों की मंद मृदुल झनकार के कानों में पड़ने लगती है। दर्शक इस नूपुर—ध्वनि का आनंद भी नहीं ले पाते कि नर्तकी अंजुली में पुष्प लिए हुए मंच पर प्रवेश कर जाती है। यह मंच प्रदक्षिणा करके आगे मध्य में मंगलधर पर पुष्प अर्पित करती है। फिर अन्य नर्तकियां आती हैं वे भी उसी की भाँति नृत्य करती

हैं और विभिन्न प्रकार की पिण्डियाँ, अर्थात् 'टेबलॉज्' बनाकर मंच तथा प्रेक्षक-कक्ष में एक विशेष प्रकार के विनोद मूलक शील की दर्शकों के चित्त में अवतारणा करती है। फिर, मंच पर मार्ष आता है। सूत्रधार तथा बान्दी आते हैं। रंग-द्वार और त्रिगत होने बाद मूल प्रदर्शन प्रारंभ हो जाता है। इस संबंध में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है। कि वह नर्तकियों से जब प्रदर्शन के प्रारंभ में नृत्य करता है तो कहता है—

“कार्यो नाति प्रसंगो अत्र गीतविधि प्रति।

गीते वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्ते अति प्रसंगतः।।

खेदो भवेत्प्रयोक्तृणां प्रेक्षकाणां तथैव च।

खिन्नानां रस भावेषु स्पष्टता नोपजायते।।

अर्थात् पूर्वरंग में नूतन और गीत का प्रयोग अधिक न किया जाए। यदि गीत-वाद्य और नृत्य का प्रयोग अधिक किया गया तो इससे पात्र और दर्शक दोनों ही थकावट का अनुभव करते हैं। जिससे वे रस और भावों का पूरा आनंद नहीं उठा पाते। अतः यह उतना ही किया जाए जिससे दर्शकों का मन न ऊबे। भरत मुनि की कल्पना का नृत्त धनंजय की भांति केवल ताल और लय पर आश्रित अंग-विक्षेप भर नहीं है, अपितु एक भव्य चित्रात्मक सौन्दर्ययुक्त गतिशील कलाविन्यास है। उसका व्याकरण है, व्यवहार की विधियाँ हैं, उसका उद्देश्य और उपयोगिताएँ हैं। भरत मुनि की नृत्त विषयक मान्यता की पृष्ठभूमि में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि वह अपने नृत्त से दर्शकों का चित्तानुरंजन करता है। दर्शकों की दुखित श्रुति भावना को आल्हादमय वातावरण के उत्फुल्ल तत्वों से सरोबार कर, उनके हृदय में आनंद का संचार कर देता है और इस क्रिया के द्वारा वह भिन्न-भिन्न रुचियों वाले दर्शकों की आंतरिक भावना और मनःस्थिति को एक भूत करके अपने अनुकूल बना लेता है। साथ ही होने वाले प्रदर्शन में उनकी आंतरिक चेतना को केन्द्रित कर देता है। 'नाट्यशास्त्र' में भरतमुनि ने नृत्य के संबंध में स्पष्ट दिया हुआ है कि जब गीत की भावों द्वारा अभिव्यक्ति की जाती है, तो वह नृत्य बन जाता है। उनके अनुसार नृत्य में गायन और वादन का सम्मिलित होना ही अनिवार्य नहीं, गायन में ध्रुवाओं का प्रयोग होना भी अनिवार्य है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि नृत्य और काव्य के मिश्रण को भरतमुनि द्वारा नृत्य कहा गया है। उसमें पदों के अर्थों की भावना सम्मिलित रहती है। काव्य, संगीत तथा नृत्त तत्व मिलकर नृत्य नामक क्रिया की सृष्टि होती है।

पारसी थियेट्रिकल कम्पनियाँ रू

पारसी थियेटर कम्पनियों का एक अलग इतिहास है। पारसी रंगमंच इस दौर का सबसे पुराना रंगमंच है। कालांतर में उसमें से गुजराती और उर्दू रंगमंच की परम्पराएँ अलग हुईं और

विकसित हुई। पारसी मूलतः गुजराती ही थे, इसलिए उस रंगमंच पर गुजराती भाषा एवं संस्कृति का प्रभाव काफी गहरा था। इस रंगमंच का मुख्य कार्यक्षेत्र बम्बई था, इसलिए मराठी संस्कृति का भी उस पर प्रभाव पड़ा। इसके अलावा उस समय के शास्त्रीय, उपशास्त्रीय विद्या के महान कलाकार गौहरजान, जानकीबाई, प्यारासाहब आदि की गायकी का भी उस पर प्रभाव पड़ा। वैसे तो प्रादेशिक लोकपरम्परा एवं शास्त्रीय-उपशास्त्रीय संगीत परम्परा का असर सभी रंगमंच पर देखने को मिलता है, लेकिन पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव सिर्फ पारसी रंगमंच में ही ज्यादातर देखने को मिलता है।

इनके निर्माण में कुछ पारसी सेटों, प्रतिभाशाली व्यापारियों एवं रुचि-सम्पन्न विद्वानों का विशेष योगदान रहा है। इसमें काउस जी काबरा, सोराब जी पटेल, दादा भाई पटेल, खान जी आदि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

बम्बई नगर में पारसी जाति के अनेक सम्भ्रान्त सेठ आकर बसे और वहाँ अपने व्यापार का केन्द्र बनाया। नवीन युग का पहला रंगमंच बम्बई में सन् 1750 ई. में बनाया गया, जिसका नाम बम्बई थियेटर बम्बई ग्रीन रखा गया। यह लगभग 1835 ई. तक किसी प्रकार जीवित रहा। इसके बाद बम्बई में ही ग्रांट रोड पर दूसरा थियेटर हाल 1845 ई. में निर्मित किया गया और उसका अन्तिम नाम ग्रांट रोड थियेटर पड़ गया।

उस समय विक्टोरिया नाटक मण्डली की लोकप्रियता बढ़ी हुई थीं। उसके साझीदारों ने तय किया कि अपना अलग थियेटर हाल बनवाया जाय और फिर किराए की भूमि पर लोहे के चादरों का एक दूसरा थियेटर हाल बनवाया गया। इसका नाम विक्टोरिया थियेटर हाल रखा गया। यह बम्बई का दूसरा थियेटर हाल था। हाल में कम्पनी ने पहला नाटक रूस्तम सोहराब अभिनीत किया। यह ड्रामा इतना लोकप्रिय हुआ कि सभी नई पारसी थियेटर कम्पनियाँ इसका अभिनय करने लगीं। इस प्रकार व्यावसायिक पारसी नाटक कम्पनियाँ अस्तित्व में आयीं।

भारत में प्राचीन संस्कृत रंगमंच की स्थापना बहुत पहले हो चुकी थी। किन्तु लगातार विदेशी आक्रमणों से राजनैतिक अस्थिरता के कारण वह भयभीत हो गया था। सत्रहवीं शताब्दी में पुर्तगालियों और अट्टारहवीं शताब्दी में अंग्रेजों ने बम्बई में कुछ ऐसे थियेटर हालों की रचना कराई जहाँ ईसाई धर्म के प्रचार के लिए साधारण कोटि के अंग्रेजी में हिन्दुस्तानी नाटक अभिनीत किये जाते थे। धर्म-प्रचार इनका प्रधान उद्देश्य था। फिर भी इनसे आगामी नाटक कम्पनियों से रंगमंच को बहुत प्रेरणा मिली।

उन्नीसवीं शताब्दी में बम्बई के मराठों और पारसी जाति के रुचि-सम्पन्न व्यक्तियों ने 'ट्रामेटिकोर' की स्थापना की। इसकी उपशाखा हिन्दू ट्रामेटिक कोर भी थी, जिसमें पारसी अमीरों एवं सेठों की बहुतायत थी। ये लोग ही हिन्दू नाटक संघ के प्रबन्धक और संचालक थे। इसी कम्पनी के तत्वाधान में हिन्दी-उर्दू नाटक भी अभिनीत हुए। इन पर पाश्चात्य नाट्य शास्त्र और रंगमंच का प्रभाव था। 1861 ई. तक बम्बई में 18 या 19 नाटक कम्पनियाँ बन चुकी थीं। 1862 ई. में पारसी विक्टोरिया क्लब अस्तित्व में आया। बम्बई में इसका नाम विक्टोरिया नाटक मण्डली हो गया। 1873 ई. तक विक्टोरिया नाटक कम्पनी की स्थापना की। इसी को बाद में बालूयोवाला विक्टोरिया नाटक मण्डली कहा गया। इस प्रकार पारसी नाटक कम्पनियों ने हिन्दी और उर्दू रंगमंच को स्थापित कराने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कुछ पारसी नाटक कम्पनियाँ इस प्रकार हैं—

1. दी राजपुताना मालवा थिएट्रीकल कम्पनी जोधपुर 2. लाइट ऑफ इण्डिया थिएट्रीकल कम्पनी आगरा 3. बेनजीर स्टार ऑफ इण्डिया थिएट्रीकल कम्पनी अलीगढ़ 4. इण्डियन इम्पीरियल थिएट्रीकल कम्पनी फतेपुर 5. दी मून ऑफ इण्डिया थिएट्रीकल कम्पनी हैदराबाद 6. मैटर थियेटर्स लि० कलकत्ता 7. पारसी कोर नवीन थिएट्रीकल कम्पनी कलकत्ता—बम्बई 8. शेक्सपीरियन थिएट्रीकल कम्पनी बम्बई 9. इम्पीरियल थिएट्रीकल कम्पनी धौलपुर 10. पारसी अलैक्जेंडर्स थिएट्रीकल कम्पनी दिल्ली 11. अलबर्ट थिएट्रीकल कम्पनी ऑफ पंजाब 12. काबुल भारत थिएट्रीकल कम्पनी मेरठ 13. हैदराबाद ड्रामेटिक क्लब 14. बाल थिएट्रीकल कम्पनी हैदराबाद 15. सीताराम थिएटर 16. महाराज चरखारी की कम्पनी चरखारी 17. ग्लोब थिएटर ऑफ पंजाब लाहौर आदि ।

2.3.2 पारसी रंगमंच में ऐतिहासिक दृष्टिकोण

वह पारसी थियेटर क्या था, जिसने दिल्ली दरबार के दिनों से लेकर उन्नीस सौ पचास—करीब पांच दशकों से भी अधिक दिनों तक, पूरे हिन्दुस्तान को अपने रंगमंचीय जादू में इस तरह बांधा था कि, वैसा आधुनिक हिन्दुस्तान में फिर कभी न हुआ ।

राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दृष्टिकोण— अंग्रेज अठारह सौ सत्तावन के साथ उत्तर भारत में बढ़े थे। इससे पूर्व उन्होंने बम्बई और कलकत्ते में खूब जमकर अपना खेमा गाड़ रखा था। अंग्रेज इन दो केन्द्रों में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और व्यावसायिक अथवा अपने पूर्ण सांस्कृतिक जीवन तथा जातीय महिमा के साथ जिन्दगी जी रहे थे। उनका उसी जातीय महिमा में उनका रंगमंच भी था। बहुत सारी चीजों की तरह ही उसे वे अपने साथ हिन्दुस्तान ले आए थे, नियमित रूप से जैसे वे हमेशा सीधे इंग्लैण्ड से ले आते हैं। ऐसा उन्होंने दो कारणों से किया था— अपने रंगमंच में अपने नाटक को देखने की उनकी आदत और शौक, तथा हिन्दुस्तान में अपने सौन्दर्य—बोध एवं नाट्यकला का प्रदर्शन ।

इस तरह पारसी थियेटर किसी रंगमंच—विशेष का नाम न होकर, उन थियेटर कम्पनियों का नाम है, जिनके मालिक पारसी लोग थे। यह पारसी थियेटर दरअसल उस विशाल जनता (दर्शक समाज) का दिया हुआ नाम है, जो इसकी आशिक थी। यह थियेटर अपनी संज्ञा, नाट्य—प्रकृति, रंग—व्यवहार आदि सभी दृष्टियों से अंग्रेजी कम्पनियों (जो प्रायः शेक्सपियर के नाटक व्यावसायिक मनोरंजन के उद्देश्य से खेलती थीं) के अनुकरण और प्रभाव के भीतर से विकसित हुआ था। अल्फ्रेड, कोरेन्थियन कारोनेशन थियेट्रिकल, विक्टोरिया, ओरेजिनल आदि पारसी थियेटर कम्पनियों के ये अंग्रेजी, मध्ययुगीन नाम शेक्सपीरियन काल के इंग्लैण्ड की याद दिलाते हैं ।

ऐलिजाबेथ—काल के उस इंग्लैण्ड में जिन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारणों से, बल्कि दबाव से, उतने बड़े पैमाने पर जिस तरह पेशेवर नाटक कम्पनियां खुली थीं, कुछ—कुछ उसी तरह का वातावरण उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के प्रारंभ के हिन्दुस्तान में भी पैदा हुआ था। सामाजिक जीवन में आर्यसमाज का सुधारवादी आन्दोलन छिड़ा था। नैतिक चेतना

के क्षेत्र में बंगाल का पुनरुत्थानवादी प्रकाश आ रहा था। राजनीतिक क्षेत्र में (जिसका अधिकांश स्वरूप सांस्कृतिक था और जिसके नायक थे—विवेकानन्द, गोखले, तिलक, राजा राममोहन राय, ऐनीबेसेण्ट आदि) भी वही जागरण उभर रहा था। भारत आजाद भी हो सकता है, इस बुनियादी सत्य से वह कल्पना, वह स्वप्न उठने लगा था, जिसमें स्वच्छन्दता, भावुकता, यहां तक कि अतिभावुकता की मानसिक स्थितियां समाज में घर करने लगी थीं।

इन दिनों भारत में अंग्रेजी राज के फलस्वरूप, उस काल तक आते-आते सर्वथा एक नई आर्थिक दुनिया पैदा हुई थी, जिसमें उभरे थे बाजार, बड़े शहर, कल-कारखाने, उद्योग-धंधे, शोषण और आर्थिक संगठन के नये-नये स्वरूप, कम्पनियां, साहूकार, बनिये, बाजारपति, बैंकर्स आदि। यातायात के साधनों, और सुविधाओं के फलस्वरूप भारत की विशाल जनता अब बड़े शहरों में (कलकत्ता, बम्बई, कानपुर, दिल्ली, मेरठ, बरेली, अहमदाबाद, आगरा) और मेले, नुमाइश, कटरा, नक्खास, चौक आदि स्थानों पर इकट्ठी होने लगी थी। इन्हीं जगहों, स्थानों पर पारसी कम्पनियां नाटक खेलती थीं। उस नई आर्थिक स्थिति में एक ओर पैदा हुआ विशाल व्यापारी वर्ग और मजदूर समाज, दूसरी ओर उस अर्थ और नई सामाजिकता के भीतर से उत्पन्न हुआ मध्यवर्ग, नौकरी पेशे के भीतर से।

द्विमुखी नवोत्थान-काल- यह समूचा काल, इसका पूरा मानस-लोक ही बड़ा विचित्र और अंत विरोधों से भरा पड़ा था। यह एक ओर 'न्यू' होने के लिए तड़प रहा था, दूसरी ओर अपने-आपको अपने महान प्राचीन और गौरवमय अतीत से बांधे रखना चाहता था। एक ओर यह अपनी जातीय परम्परा ओर एक नये राष्ट्रबोध के स्वप्नों में डूबा था, दूसरी ओर यह नवोत्थान-आन्दोलन के फलस्वरूप अपने को असीम, व्यापक मानवता (नई भारतीयता) में फैलाकर देख रहा था। भावनात्मक और मानसिक स्तर से यह एक ओर शुद्ध भारतीय, विशुद्ध हिन्दू होने का स्वप्न देख रहा था, दूसरी ओर ऐंग्लो सेक्सन सभ्यता के सम्पर्क से मिस्र, टर्की, अरब, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलयद्वीप आदि समस्त मध्य पूर्व और सुदूर पूर्व के जीवन-स्पन्दनों को अपने-आपमें भर लेना चाह रहा था। यह एक ओर सुधार के लिए तड़प रहा था, दूसरी ओर सर्वथा 'न्यू' के प्रति लालयित था। सौन्दर्य-बोध के स्तर से इसे पूरब-पश्चिम के मिलन और समन्वय का बिन्दु कहा जा सकता है। विचार, भाव और कला इन तीनों स्तरों तथा पक्षों से यह युगारम्भ जैसे भी सही, उत्तरोत्तर आगे सहज और सधन होता गया।³⁷

पारसी थियेटर में गीत योजना

देवेन्द्र राज अंकुर ने पारसी थियेटर के नाटकों को 'म्यूजिकल प्ले' कहा है। देवेन्द्र राज अंकुर के शब्दों में—“कुछ नाटक म्यूजिकल प्ले कहे जाते हैं। उनमें संगीत मौजूद होता है, कविताएँ, गीत आ जाते हैं जैसे— पारसी थियेटर।”

सोमनाथ गुप्ता के अनुसार—“प्रारंभ में पारसी नाटकों में संगीत नहीं था। दादी पटेल ने सर्वप्रथम 'बेनजीर बदरे मुनीर' में ओपेरा का प्रयोग किया। इसके पश्चात् धीरे-धीरे पारसी नाटकों में संगीत

का प्रयोग बढ़ा। नशखानजी, आपख्तार, अल्लादिया मेहरबान, मास्टर झंडे खाँ और मास्टर लाल इस युग के प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। पारसी नाटकों में मुख्य रूप से शास्त्रीय संगीत का ही प्रयोग किया गया था।³⁸

2.3.3 पारसी रंगमंच के आधारभूत तत्व

पारसी रंगमंच व्यवहारिक रंगमंच था। इससे भी आगे यह व्यवसायिक रंगमंच था। मूलतः सभी नाटकों की रचनाएं इसी व्यावसायिक रंगमंच की मांग और उसकी शर्तों के अंतर्गत होती थीं। यह एक ऐसी मर्यादा थी जिसके बीच नाटककार कम्पनी के मालिक की सीमा के भीतर अपनी रचना करता था। कभी-कभी कम्पनी का मालिक भी रंगमंच का निर्देशक और प्रस्तुतकर्ता होता था। इस तरह पारसी रंगमंच वस्तुतः अपने विशिष्ट रंगतत्वों के लिए उल्लेखनीय हो उठा था और उन्हीं विशिष्ट तत्वों के सामूहिक प्रभाव से वह विशेष रंगमंच सिद्ध हुआ था। ये रंगतत्व निम्न हैं—

- ☞ निर्देशक
- ☞ रिहर्सल या तैयारी (रियाज़)
- ☞ संगीत और नृत्य

निर्देशक— पारसी रंगमंच में निर्देशक का स्थान सबसे ऊंचा था। इतना ऊंचा कि निर्देशक ही नाट्य-लेखन को बुनियादी तौर पर अनुशासित करता था। निर्देशक नाटक की भाषा, भाव और वाक्यों के ही जानकार नहीं थे, वरन् चरित्र-चित्रण पर भी उतना अधिकार रखते थे। निर्देशक नाटककार से अपनी इच्छा-आवश्यकता के अनुसार दृश्यों में अदल-बदल और पुनर्लेखन ही नहीं करवाता, बल्कि एक-एक शेर के अर्थ पर भी ध्यान रखता था और उसे फिर से लिखवाता था। निर्देशक का यह संबंध और प्रभाव केवल नाटककार तक ही नहीं था, बल्कि पूरे रंगमंच में उसका व्यक्तिव एक तरह से सर्वव्यापी था। उसी के व्यक्तित्व से ये तीनों आयाम हुये:

1. संगीत-निर्देशक
2. सीन-सीनरी-निर्माता
3. अभिनेता

कुछ प्रसिद्ध निर्देशक— अल्फ्रेड कम्पनी के प्रसिद्ध निर्देशक थे मेहरजी सर्वेया। न्यू अल्फ्रेड के प्रख्यात निर्देशक थे सोहराबजी ओग्रा— जिन्हें प्रायः लोग 'सोराबजी' कहते थे। यह उन निर्देशकों में से थे जिन्होंने नाटक के सम्पूर्ण अंगों पर अधिकार प्राप्त किया था— जैसे लेखन; चरित्र-चित्रण, उच्चारण, कथानक, दृश्यों के क्रम, अभिनय, निर्देशन, गीत-संगीत, नाच, सीनरी और ड्रेस। कोरेंथियन के निर्देशक थे मास्टर नागरजी।

रिहर्सल या तैयारी (रियाज़)— पारसी थियेटर में नाटकों की रिहर्सल का अत्याधिक महत्व था। रिहर्सल का कार्यक्रम बहुत बड़े पैमाने पर सम्पन्न किया जाता था। अनेक नाटक ऐसे खेले गए हैं

जिनकी रिहर्सल पूरे एक वर्ष तक की गई है। ये रिहर्सल प्रायः दिन में होती थी क्योंकि रात में पुराने नाटकों के प्रदर्शन अबाध गति से चलते रहते थे।

रिहर्सल की अपनी कुछ मर्यादाएं थी। जैसे—

1. मंच पर रिहर्सल करते समय नाटक की कॉपी स्टेज पर ले जाना मना था।
2. रिहर्सल के दौरान सिगरेट पीना, पान खाना मना था।
3. जिसे कुछ खाना-पीना हो वह थियेटर के बाहर जाकर खा-पी सकता था।

रिहर्सल की प्रक्रिया— पूर्वाभ्यास की प्रक्रिया या कार्यक्रम निम्नलिखित ढंग से पूरा किया जाता था:

1. पाठशुद्धि 2. मुंह पर चढ़ना 3. याद करना 4. खड़े होकर अभ्यास करना।

इसके बाद अभिनय-स्तर में पूर्वाभ्यास इस तरह शुरू होता था:

1. मुद्राओं के साथ अभिनय
2. प्रवेश और प्रस्थान को प्रभावपूर्ण बनाना
3. मंच के बीच में खड़े होकर बोलना
4. तीसरे गाले (विंग) से दूसरे गाले के सामने आकर अभिनय-अभ्यास
5. फुट लाइट के पास जाकर वाक्-अभिनय का अभ्यास
6. जरूरी एक्शन का अभ्यास आदि।

संगीत और नृत्य— पारसी रंगमंच के उद्भव और विकास में, संगीत और नृत्य को तीन संदर्भों में व्यक्त किया जा सकता है।

1. संस्कृत और मध्ययुगीन नाटकों में संगीत-तत्व
 2. लोकनाटक और रंगमंच में व्यवहृत संगीत और नृत्य-तत्व
 3. पश्चिमी 'ओपेरा' और 'बैले' के प्रभाव में यहां आया हुआ संगीत और नृत्य-तत्व।
- इन्हीं तीनों संदर्भों से ही पारसी रंगमंच का जन्म और विकास हुआ है।

संस्कृत नाटकों के मूल में संगीत-तत्व आदि से ही विद्यमान था। भरत के 'नाट्यशास्त्र' के चौथे अध्याय में इस संदर्भ में एक विशेष उल्लेखनीय बात है। जब भरत ने ब्रह्मा के आदेश पर 'अमृत-मंथन' और 'त्रिपुर-दाह' इन दो नाटकों को प्रस्तुत किया तो उन्होंने इनमें किसी प्रकार के संगीत-नृत्य को नहीं रखा था। उन नाटकों को शिव को दिखाया गया, जो स्वयं संगीत और नृत्य के आदि देवता हैं और उन नाट्य-प्रदर्शनों को देखकर स्वयं शिव ने भरत को यह सलाह दी थी कि शुद्ध अभिनय के स्थान पर उन्हें संगीत और नृत्य का भी प्रयोग करना चाहिए और तब अभिनय में इस तरह के तत्वों के उपयोग से नाट्य-प्रदर्शनों के स्तर और क्षेत्र में गहराई और विस्तार आएगा। इसके बाद से ही नाटक में संगीत और नृत्य के उपयोग की अनिवार्यता प्रकट हो गई।

लोकरंगमंच में इस संगीत और नृत्य-तत्व का और भी अधिक प्राधान्य रहा है। इस तरह से लोकनाटक में संगीत वह साधन है, जिसके सहारे नाटक की संरचना होती है और दर्शकों तक इसकी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण की जाती है। खुले मंच पर लघु नाटकों की संरचना संगीत और नृत्य-तत्व की अनिवार्यता और भी अधिक सिद्ध करती है, क्योंकि बिना इसके विशाल जन-समूह

की मंत्रमुग्ध बनाये रखना असंभव था। साथ ही दूर-दूर से दर्शकों को खींच ले आने के लिये उस संगीत की पुकार भी जरूरी थी। जैसाकि लोकरंगमंच की प्रकृति से स्पष्ट है, चूंकि इसमें न दृश्य-परिवर्तन होता है, न पर्दा उठता है या गिरता है, इसलिए इन तत्वों के अभाव की पूर्ति भी संगीत को ही करनी पड़ती है। उत्तर प्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान— इन सभी क्षेत्रों में जिस प्रकार के भी लोक रंगमंच प्रचलित रहे हैं, उन सबमें संगीत और नृत्य-तत्व का अधिक प्राधान्य रहा है। लोकरंगमंच के सन्दर्भ में चाहे वह राजस्थान का हो, चाहे गुजरात का, महाराष्ट्र का या उत्तर प्रदेश का, उसमें आदि से अन्त तक एक इत्तिवृत्तात्मक संगीत-तत्व की बनावट हुआ करती है।

पारसी रंगमंच के अवतरण के समय लोकरंगमंच में संगीत का जो स्वरूप विद्यमान था, वह अपनी प्रकृति में शास्त्रीय संगीत का आधार लेते हुए भी लोकसंगीत था। दूसरी तरफ, उस समय वाज़िद अली शाह के दरबार से उद्भूत इंदर-सभा की संगीत परम्परा भी जीवित थी। इन्दर-सभा की संगीत-शैली में शास्त्रीय और लोकसंगीत इन दोनों का सुन्दर समन्वय था। उस संगीत के बोल पर जहां एक ओर नौटंकी, रास का प्रभाव था, वहां उसके राग और ताल पर शास्त्रीय संगीत का भी प्रभाव था।

मंच पर संगीत की प्रकृति— “भारतवर्ष में संगीत की कुछ ऐसी शैलियां और प्रकार हैं, जिन्हें हम अशास्त्रीय कहते हुए भी उन्हें काफी महत्वपूर्ण स्थान देते हैं, क्योंकि उन गायन-शैलियों का मूलाधार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शास्त्रीय ही होता है, बल्कि यों कहें कि शास्त्रीय शैली से विकसित होकर वे जनमानस में धुलती हुई लोकप्रिय तालों में बदल जाती हैं और उनका रस और प्रभाव निराला हो जाता है।

यहां संगीत के अन्तर्गत तालों, बंदिशों और गीत के शब्दों का अत्याधिक महत्व था। एक तरफ से नाटकों की भावुकता और उसका रोमांटिक तत्व गायन के ही माध्यम से प्रकट किया जाता था, इस मंच के संगीत को सुनने वाले ज्यादातर ऐसे लोग थे जिनके संस्कार में शास्त्रीय संगीत ज्यादा बलवान था चूंकि इन नाटकों में राष्ट्रीय पुनरुत्थान की भावना ज्यादा प्रबल थी, इसलिए रागों और तालों की शुद्धता पर भी काफी बल दिया जाता था। ध्रुपद हिन्दू संस्कार के बहुत करीब था इसलिए ध्रुपद को आधार बनाकर ऐसा काफी गायन पारसी रंगमंच पर मिलता है, जो एक ओर शास्त्रीय है और दूसरी ओर जिसमें नये प्रयोग किए गए हैं। विशेषकर प्रार्थना-संगीत में ध्रुपद का इस्तेमाल अत्याधिक है।

ध्रुपद के अलावा धमार और होरी नाटक की विशेष परिस्थितियों में अत्याधिक व्यवहृत है और जहां-जहां नाटक के दृश्यों में, अनुक्रमों में, कोमलता और नाजुक ख्याली को प्रकट करना था, वहां देस, विहाग, बागेश्वरी, ललित, मालकौंस आदि को भी नये ढंग से इस्तेमाल किया गया है। चूंकि ख्याल गायकी संपूर्ण भारतवर्ष, विशेष कर उत्तर तथा पश्चिम भारत में अत्याधिक लोकप्रिय थी, इसलिए पारसी रंगमंच के मध्यकाल तक ख्याल-गायकी को किसी न किसी रूप में रखने का फैशन चल गया था।”

2.3.4 पारसी थियेटर की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषताएं—

- अभिनेता का सर्वांगीण एवं सघन प्रशिक्षण।

- शुद्ध उच्चारण और संवादों के उतार-चढ़ाव की लयपूर्ण अदायगी।
- शरीर की लचक और आवाज का खुलापन।
- तालीम या पूर्वाभ्यास के दौरान ही नहीं, जीवन में भी 'मिलिट्री कैम्प'—सा कठोर अनुशासन।
- पूरी तैयारी के साथ दर्शकों के समक्ष पेश होने की जिद और उन्हें पूरी तरह सन्तुष्ट करने की कोशिश।
- संस्था के सभी कलाकारों के बीच परस्पर सम्मान, प्रेम, सहयोग और सौहार्दपूर्ण सहज मानवीय सम्बन्ध।³⁹

संक्षिप्त में कहा जा सकता है कि पारसी नाटकों में संगीत के शुद्ध शास्त्रीय रूप का प्रयोग किया जाता था।

2.4 हिन्दी रंगमंच

भूमिका—

उन्नीसवीं शताब्दी में उभरते हुए नवजागरण आन्दोलन ने भारतीय जनमानस पर व्यापक प्रभाव डाला। आधुनिकता के आगमन ने लोगों के सामने नवीन प्रश्न खड़े किये, महाकाव्य की भाँति नाटक और रंगमंच की परम्परा भी जातीय जीवन के राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्कारों की वाहक होती है। हिन्दी रंग-परम्परा का भी अपना एक इतिहास है, जिसमें चाहे कितनी ही शताब्दियों का व्यवधान रहा हो, फिर भी रंगमंच और नाटकों के परम्परागत व्यवहारों और रूढ़ियों में निरन्तरता और एकसूत्रता बनी हुई है। प्रत्येक युग की रंग-परम्परा अपने ही काल में कुछ ऐसी रूढ़ियाँ एवं मान्यता स्थापित कर जाती है, जिनके रंग-सूत्र कभी भी पूरी तरह लुप्त नहीं होते हैं उन पारम्परिक रंग-सूत्रों का साहित्यिक अध्ययन बड़ा महत्वपूर्ण होता है क्योंकि उससे आगामी युग परिपोषित होता है।⁴⁰

“शास्त्रीय रंगमंच से पारसी तक भारतीय रंगमंच की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके स्वरूप में आने वाले विभिन्न परिवर्तनों को समझ लेने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाधीन भारत में संस्कृत-रंगमंच का जैसा कलात्मक विकास हुआ था, वैसा विकास तो दूर, उसकी रक्षा भी पराधीनता के दीर्घकाल में नहीं हो सकी। इसका कारण यह है कि नाटक के अभिनय और उसके प्रेक्षण के लिए जिस प्रकार के शांत और स्वतंत्र वातावरण की आवश्यकता होती है, उस प्रकार का वातावरण पराधीनता के कारण मध्यकाल में नहीं था। संस्कृत नाटकों में रंगशालाओं, अभिनय-पद्धतियों, रंग-योजनाओं, पात्रों की भंगिमाओं और शिल्प की प्रभावोत्पादक आदि की ओर जो ध्यान दिया गया है, उसका नाट्य प्रदर्शन में अनुकरण होता रहा होगा, यह बात संस्कृत के नाट्यशास्त्र और रंगशालाओं सम्बन्धी उपलब्ध सूत्रों से सिद्ध होती है। पराधीनता के मध्यकाल में भारतीय नाट्य-परम्परा अपने उन सूत्रों से एकदम कट गयी थी। विदेशी शासन ने नाट्य विधा और रंगमंच के प्रतिकूल वातावरण पैदा किया। मुगल शासनकाल में रंगमंच के प्रति हीनता का भाव जगाया गया। अंग्रेजी शासनकाल में भी अनेक प्रकार से नाटक के विरुद्ध वातावरण बनता रहा। लोक-रंगमंच और पारसी नाट्य-प्रदर्शनों ने भारतीय रंगमंच के टूटते हुए सूत्र को जोड़े

रखने की चेष्टा अवश्य की, लेकिन उससे नाट्य-रचना का संबंध नहीं जुड़ सका। इसी निराशा जनक पृष्ठभूमि पर हिन्दी नाटक और रंगमंच का विकास आरम्भ होता है, इसलिए अपनी आरम्भिक अवस्था में ही हिन्दी-नाट्य-लेखन रंगमंच की दृष्टि से एक विषम दुविधा में पड़ जाता है। दुविधा यह है कि नाटक की रचना किस रंगमंच के अनुसार किया जाये? प्राचीन शास्त्रीय रंगमंच स्वीकार किया जाये या लोक रंगमंच और पारसी रंगमंच में से किसी को चुन कर अनुकरण किया जाये अथवा देश की बंगला-मराठी जैसी समृद्धि भाषाओं के समकालीन रंगमंच को अपना आदर्श बनाया जाये? इन सबसे अलग एक मार्ग यह भी था कि हिन्दी नाटक अपने जन्म के साथ ही अपने स्वतंत्र रंगमंच का विकास करे।⁴¹

हिन्दी रंग-परम्परा का विकास क्रमिक रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। इससे पूर्व संस्कृत रंगमंचीय परम्परा से प्रभावित पारसी और लोक रंगमंचीय परम्पराएँ अवश्य विद्यमान थी; किन्तु भारतेन्दु-युग से हिन्दी रंगमंच का स्वरूप निर्धारित किया गया था, वह बड़ा क्रांतिकारी और राष्ट्रीय-सांस्कृतिक तथा देशभक्ति से अनुप्रमाणित था। इससे पूर्व हिन्दी का कोई रंगमंच नहीं था। भारतेन्दु युग, हिन्दी नाटक और रंगमंच की दृष्टि से सार्थक और सक्रिय रूप से प्रयत्नशील युग था। भारतेन्दु के पश्चात् लगभग चालीस वर्षों तक हिन्दी साहित्यिक नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई; जिसका धातक प्रभाव प्रसाद युग के हिन्दी नाटकों और रंगमंच पर भी पड़ा। जिससे प्रसाद-युग में हिन्दी रंगमंच का विकास आगे नहीं हो सका, किन्तु भारतेन्दु से प्रेरणा लेकर प्रसादोत्तर युग में हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास को नई दिशा देने का विशेष कार्य किया गया, इससे प्रसाद के पश्चात् हिन्दी के व्यवस्थित रंगमंच की साहित्यिक चेतना का विकास हुआ।

नाटक लोकजीवन का प्रतिबिम्ब है। नाटककार लोकजीवन के क्रियाकलापों में ही नाटक की कथा का उद्भाव खोजता है। आदियुग से ही नाटकों के विकास का क्रमबद्ध इतिहास चला आ रहा है, लोकजीवन में जो कुछ घटित होता है, उसी की छाया नाटकों में प्रदर्शित की जाती है। हिन्दी नाटकों में भी संस्कारों की छाप विद्यमान है।

हिन्दी नाटकों को वास्तविक प्रेरणा संस्कृत नाटकों से मिली। हिन्दी के प्रारंभिक नाटक संस्कृत नाटकों के अनुवाद के रूप में प्रस्तुत हुए हैं 'हिन्दी नाट्य साहित्य' को सर्वप्रथम नाटकों के पद्यात्मक संवादों ने आकृष्ट किया। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हिन्दी नाटकों का उदय संस्कृत के नाटकों से हुआ।⁴²

ऐसे ही परिवेश में भारतीय मानस की अभिव्यक्ति के लिये हिन्दी रंगमंच का उदय होता है। व्यवसायिक एवं अव्यवसायिक रूप में हिन्दी रंगमंच का अपना आकार ग्रहण करने लगता है। ऐसे में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी रंगमंच को एक मिशन के रूप में लिया और उसे एक नई दिशा दी। भारतेन्दु के बाद अगले पचास वर्षों तक अपना रंगमंच ही विलुप्त रहा। जनता मनोरंजन के लिये दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई की ओर से आने वाली पारसी कम्पनियों के खेल देखती रही। किन्तु ठीक इसके विपरीत बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिण में उनका अपना रंगमंच अबोध गति से चल रहा था। किन्तु जब पारसी रंगमंच का युग समाप्त हुआ, उस रंगमंच के स्थान पर जब सिनेमा आया— तब इस क्षेत्र में क्या गति हुई, इसका लेखा-जोखा बड़ा ही मनोरंजक है। वस्तुतः सिनेमा के सामने पारसी रंगमंच इसलिये खत्म हो गया कि सिनेमा ने यथार्थवाद और स्वाभाविकता के स्तर से एक नये प्रकार के अभिनय और प्रदर्शन को उसके

सामने ला खड़ा किया। फलतः पारसी थियेटर के वे नाटक, जो गाना, नाच, जोशीले भाषण, शेरों-शायरी तथा रोमांचपूर्ण घटनाओं तथा कथातत्वों से निर्मित होते थे, और सिनेमा के सामने यह समूची नाट्यधारा समाप्त हो गयी। पारसी रंगमंच के युग में हिन्दी क्षेत्र को छोड़कर अन्य उन सब प्रान्तों में, जहाँ उनके रंगमंच अबाध गति से चल रहे थे, उन पर पारसी रंगमंच के तत्वों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कहीं न कहीं प्रभाव डाला था।

“स्वतंत्रता के बाद नए रंग-आन्दोलन ने हिन्दी रंगमंच को समृद्ध करने के साथ ही एक नई दिशा भी दी। साहित्य की अन्य विधाओं के नाट्य-रूपान्तरण सामने आये और उनके सफल मंचन भी हुए। छठें दशक के बाद रंगमंच की प्रयोगशीलता नया रूप धारण करने लगी। नाट्य-रूपान्तरण में लेखक की सृजनात्मकता सीमित रूप में ही अभिव्यक्ति हो पाती थी। आज का हिन्दी रंगमंच जिस बिन्दु पर खड़ा है वहाँ उसे दुहरी चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। एक तरफ तो धारावाहिकों और मीडिया की चुनौती है तो दूसरी तरफ प्रस्तुति के खर्च में भी अत्याधिक वृद्धि हुयी है। इसके अलावा ग्लैमर और भव्यता की दृष्टि से रंगमंच फिल्मों और टेलीविजन का मुकाबला कभी नहीं कर सकता। मंचन योग्य नाटकों की भी लगातार कमी बनी हुयी है। इसलिये आज आवश्यकता है एक नये रास्ते के तलाश की।”⁴³

“संस्कृत नाटकों की रचना और उनके अभिनय का युग दसवीं शताब्दी तक चला, कालान्तर में यह पुस्तकों के उल्लेख मात्र में ही सीमित रह गया। धीरे-धीरे ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दी तक संस्कृत रंगमंच का प्रचार बंद हो गया। परिष्कृत संस्कृत रंगमंच का हास होने के बाद कई अन्य प्रकार के रंगमंच की परम्परा जनता में चलती रही। अंग्रेजी रंगमंच के प्रभाव के फलस्वरूप आलोच्य काल के थोड़े पूर्व संस्कृत का नाट्य मंच पुनः विकसित हुआ दृष्टिगत होता है। इन दिनों लोक भाषा तथा लोक नाट्य के सहारे जिस नाट्य कला का विकास हुआ, उससे हमारे हिन्दी रंगमंच का विकास हुआ।

स्वतन्त्र्य पूर्व नाट्य-परिदृश्य को तीन उपखण्डों में विभक्त कर विवेचन किया गया है—

1. भारतेन्दु युगीन हिन्दी रंग-परम्परा
2. प्रसाद युगीन हिन्दी रंग-परम्परा
3. प्रसादोत्तर युगीन हिन्दी रंग-परम्परा”⁴⁴

भारतेन्दु के पूर्ववर्ती रंगमंच की पृष्ठभूमि—

हिन्दी के पूर्व और सहवर्ती समाज की स्थिति बड़ी दयनीय थी। ऐसी स्थिति में जागृति का माध्यम केवल रंगमंच था। इस युग में रंगमंच का विकास मुख्यतः इन्हीं कारणों से हुआ। इसके प्रेरक थे भारतेन्दु। “गोस्वामी तुलसीदासजी की तरह भारतेन्दु ने भी लोकहित-साधना और साहित्य-साधना को एक रूप कर दिया था।”⁴⁵ भारतेन्दु एक नवीन नाट्यादर्श की प्रतिष्ठा भी

करना चाहते थे जिसमें प्राचीन और नवीन अर्थात् पूर्वी और पश्चिमी नाट्यधर्म का समन्वय हो। भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी रंगमंच का स्वरूप सुनिर्धारित नहीं था। हिन्दी नाटक के प्रसव काल में हमारे यहां धार्मिक लीलाओं और लोक नाट्यों की ही परम्परा विद्यमान थीं दूसरी ओर पारसी कम्पनियों के पास चमत्कृत करने वाला रंगमंच था किन्तु नाटक की मूल आत्मा उनके पास न थी। इस समय रंगमंच से संबंधित दो विरोधी धाराएं प्रवाहशील थीं। कहना चाहिये इस समय निर्मित भ्रम की स्थिति से ही एक धारा रंगमंच को सर्वेसर्वा मानती थी, तो दूसरी धारा उसके प्रति पूर्णतया उदासीन थी। स्वयं जयशंकर प्रसाद ने कहा था कि “हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं है।” नाटककार भी भ्रम की स्थिति में रंग-लेखन कर रहे थे कुछ नाटककारों ने रंगमंचीय दृष्टिकोण अपनाई तो कुछ ने उसका विरोध किया। यही कारण है कि इस काल में हमारा रंगमंच उपेक्षित रह गया।

2.4.1 भारतेन्दु युगीन हिन्दी रंग-परम्परा

भारतेन्दु का आगमन हिन्दी रंग-परम्परा क्षेत्र में एक युगान्तकारी घटना है। यह एक ऐसा युग था, जब नाटक से तात्पर्य खेल-तमाशे आदि से लिया जाता था। पारसी रंगमंच का ध्येय पैसे कमाना और मनोरंजन करना था। नवावी या शाही रंगमंच का ‘रहस्य’ शाही महलों के भीतर रंगरलियों तक ही सीमित था। नाट्यकला की सामाजिक स्थिति भी सामान्य न थी। भारतेन्दु ने नाट्य-लेखन तथा रंग प्रदर्शन की नवीन सार्थक रंग-आंदोलन को जन्म दिया।⁴⁶ नवावी रंगमंच की सर्वोत्तम रचना ‘इन्दरसभा’ (गीतिनाट्य) का रंगमंचीय इतिहास में विशेष महत्व है। इसे पर्याप्त प्रसिद्धि मिली तथा यह माना जाता है कि ‘इन्दरसभा’ के अभिनय के लिये पहला हिन्दी रंगमंच केसर बाग में बना, जिसमें लखनऊ के रंगीले मियाँ वाजिद अली शाह ने स्वयं इन्द्र बनकर अनेक अभिनय किया। इस नाटक की बड़ी प्रसिद्धि हुयी, जिसे देखकर अनेक लेखक नाटक रचना की ओर प्रवृत्त हुये और फिर तो नाटकों की बाढ़ सी आ गई। परन्तु जहाँ इन्होंने लेखकों को नाटक लिखने के लिये प्रेरित किया तथा जनता में नाटकों के प्रति रुचि विकसित की, वहाँ जनरुचि को विगाड़ा भी क्योंकि इसमें सभासद् परियों से अश्लील मजाक करते थे, बाजारू प्रेम एवं अनेक अश्लीलपूर्ण वर्णन रहते थे, जिन्होंने जनवृत्ति पर बुरा प्रभाव डाला। इस रंगमंच पर अश्लील गाने गाये जाते थे, उन्हें छोटे-छोटे बच्चे गलियों में गाते फिरते थे। इससे जनता की नैतिकता का ह्यस हो रहा था। भारतेन्दु ने जब ऐसी परिस्थितियां देखी, तब उन्होंने ‘इन्दरसभा’ को भ्रष्ट नाटक मानकर उसका उपहास करने के लिये पैरोड़ी पर ‘बन्दर सभा’ नाटक लिखा, जिसने जनता को काफी प्रभावित किया और आगे चलकर जनरुचि के परिष्कार में इसने बड़ा सहयोग दिया।

इसी प्रकार एक बार भारतेन्दु ने जब पारसी कम्पनी द्वारा (नाचधर में) प्रस्तुत ‘शकुन्तला’ रंग नाटक देखा, तब उस अभिनीत बाजारू नाटक से उन्हें घोर वेदना हुई और उन्होंने सुरुचिपूर्ण नाटक लिखे तथा उसे खेलने के लिये मंच पर अभिनीत करने के लिये रंगमंच की स्थापना का दृढ़ संकल्प किया और ‘सत्य हरिश्चन्द्र’ नाटक उनके इसी संकल्प का परिणाम था। भारतेन्दु उच्च कोटि के अभिनेता ही नहीं, एक कुशल निर्देशक भी थे। साथ ही वे अपने समकालीन नाटकों तथा नाटकों की प्रभाव क्षमता से भी परिचित थे; अतः उन्होंने नाटक को एक युगधर्म की शिक्षा का माध्यम बनाया, साथ ही उन्होंने हिन्दी रंगमंच के परिष्कार का संकल्प भी किया।

भारतेन्दु ने नाटक की सार्वजनिकता और सार्वणिकता को ध्यान में रखते हुये, अपने समय में प्राप्त सभी रंगमंचीय प्रवृत्तियों का सामन्जस कर, नवीन रंगमंच की स्थापना से प्रेक्षक की रुचि को सम्पन्न और जागरूक बनाने का कार्य किया। इस प्रकार उन्होंने लम्बे अर्से से चली आ रही रंगमंचीय परम्परा के दुर्भेक्ष व्यवधान को स्वयं सेतु बनकर अनेक धरातलों से पाटकर, एक परम्परा को पाना चाहा।

भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमंच के विकास में बड़ा योगदान दिया। भारतेन्दु ने स्वयं रंगमंचीय नाटक लिखे और अभिनीत भी किये। साथ ही उन्होंने अपने समकालीन लेखकों बदरीनाथ भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, पं. बालकृष्ण भट्ट, किशोरीलाल गोस्वामी, राधा चरण गोस्वामी, निवासदास आदि को नाटक लिखने और अभिनीत करने के लिये प्रेरित किया।

“भारतेन्दु स्वयं एक साहसी कलाकार थे। नाटक लिखना तो भारतेन्दु का एक महत्वपूर्ण कार्य था ही, नाटक खेलना उससे भी साहसी कार्य था, उन्होंने बनारस थियेटर की नींव डाली”⁴⁷ और 3 अप्रैल 1868 को शीलता प्रसाद त्रिपाठी कृत ‘जानकी मंगल’ भी मंच पर अभिनीत किया। इनकी नाट्यमण्डली ‘भारतेन्दु नाट्यमण्डली’ नाम से प्रसिद्ध हुई। भारतेन्दु ने नाटकों का अभिनय करके मंच की मर्यादाओं को पहचाना। भारतेन्दु ने अपनी चौतीस वर्ष की आयु में हिन्दी रंग-परम्परा के क्षेत्र में अपूर्व सराहनीय कार्य किया।”⁴⁸

यदि हम ऐसे नाटककार को ढूँढ़ें, जिसने नाट्यशास्त्र के गम्भीर अध्ययनों के आधार पर नाट्यकला पर सौद्धान्तिक आलोचना लिखी हो, सामाजिक राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक और मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया हो, तो उन सबमें भारतेन्दु का स्थान सबसे ऊँचा होगा।⁴⁹ भारतेन्दु के नाटकों की भाषा स्वाभाविक गतिशील एवं प्रभावोत्पादक है। इनकी शब्दावली सहज बोलचाल की है। वाक्य छोटे-छोटे हैं। इनके नाटकों में पात्रों की प्रकृति एवं योग्यता के अनुसार विविध रूपिणी भाषा का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं संस्कृत मिश्रित भाषा के दर्शन होते हैं तो कहीं उर्दु भाषा के, कहीं ब्रज भाषा मिश्रित खड़ी बोली के। नाटकों के गद्य एवं पद्य दोनों में भाषा का परिष्कृत सुव्यवस्थित एवं शिष्ट प्रयोग हुआ है।

भारतेन्दु के प्रसिद्ध नाटक

अंधेर नगरी, सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, चन्द्रावली, धनंजय-विजय, रत्नावली, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, भारत दुर्दशा, नील-देवी, सती प्रताप, विद्यासुन्दर, विषस्य विषमौषधम्, पाखण्ड विडम्बन, जैसा काम वैसा परिणाम आदि भारतेन्दु के प्रसिद्ध नाटक रहे। इसमें से ‘विद्यासुन्दर’ भारतेन्दु का प्रथम नाटक माना जाता है।

भारतेन्दु जानते थे कि उन्हें अपने नाटकों द्वारा सभी वर्गों के दर्शकों को आकर्षित करना है तथा उनके मन में देश के अतीत गत और अनागत की यथार्थ स्थिति को अंकित करना है। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुये भारतेन्दु ने स्वयं नाटक लिखे। उन्होंने नाटकों की सफलता के लिये नाटकों को रोचक और अभिनयानुकूल बनाने की भरपूर चेष्टा की ही, इसके साथ ही वे इनका

रंगमंच पर सफल अभिनय करवाकर, जनता को उसके समीप पहुंचना चाहते थे। उनके नाटकों की भाषा की सरसता, जनोपयोगिता कथोपकथन, लोकप्रिय गीत, ध्वनियां सभी कुछ इसके परिचायक हैं।

भारतेन्दु युगीन नाटकों की विशेषताएँ—

1. इस युग को हिन्दी नाट्य साहित्य का स्वर्णयुग कहा गया, क्योंकि इस युग में नाटक की स्थिति विकासोन्मुख रही तथा हिन्दी नाटक अपने अस्तित्व में आया।
2. इस युग के नाटककारों की कथावस्तु, सांस्कृतिक जागरण का दिव्य संदेश देती है, जिसमें सामाजिक, धार्मिक समस्याओं के माध्यम से जनजागृति लाने का प्रयत्न किया गया है।
3. भारतेन्दु तथा उसके समकालीन नाटककारों ने लेखकों नाटकों में संस्कृत के नाटकों की परम्परा का ही पालन किया जैसे—नान्दी पाठ, भरत काव्य, विष्कंभक आदि का प्रयोग हुआ है।
4. भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने संवाद को नाटक का प्रमाण—पारसीत्र माना है।
5. इस युग के नाटकों में गद्य व पद्य की समुचित व्यवस्था देखने को मिलती है, जबकि पूर्व भारतेन्दु युग पद्य प्रधान था। गद्य का प्रयोग इस युग की प्रमुख विशेषता है।
6. भारतेन्दु युग गद्य का शैशवकाल होने के कारण भाषा में वाक्य विन्यास की अव्यवस्था तथा व्याकरण संबंधी त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।
7. देश प्रेम तथा समाज—सुधार की भावना से ओत—प्रोत इस युग के नाटकों में रस सृष्टि की तरफ विशेष ध्यान दिया गया है। इन नाटकों में सभी रसों—करुण, वीर, रौद्र, शृंगार आदि का समन्वित रूप मिलता है।
8. पौराणिक और ऐतिहासिक रचनाओं में आदर्श प्रतिष्ठित करने की तथा प्रेम—प्रधान नाटकों में स्वच्छंदवाद की प्रवृत्ति मुख्य दृष्टिगोचर होती है।
9. इस काल की नाट्य रचनाओं में स्थान—2 पर अभिनय के आवश्यक निर्देश दिए गए हैं, जो स्पष्ट करते हैं कि नाटक अभिनयार्थ ही लिखे गए थे।

भारतेन्दु की नाट्य कृतियों का रंगमंचीय महत्व—

भारतेन्दु के नाटकों का अलग—अलग विद्वानों ने विविध प्रकार से मूल्यांकन किया है। डॉ. गिरीश रस्तोगी का कथन है कि भारतेन्दु ने नाटक को रोचक और अभिनयानुकूल बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया, संस्कृत नाटकों के समान रस निष्पत्ति या रस की प्रधानता की ओर नहीं।⁵⁰ श्री कृष्णदास ने लिखा है कि उनके नाटकों में चार प्रभाव प्रत्यक्ष हैं, संस्कृत, बंगला और लोक

नाटक के। –नाटकों के आरम्भ में मंगलाचरण, सूत्रधार, नेपथ्य और आकाश भाषित आदि का प्रयोग संस्कृत के अनुरूप किया गया। गीत, मौन, झांकी रामलीला की चित्र सज्जा, प्रद्यात्मक संवाद लोक नाटकों से ग्रहण किए।⁵¹ रंगमंच की दृष्टि से विचार करने पर साफ दिखाई पड़ता है कि भारतेन्दु जनता के समीप पहुंचना चाहते हैं। भाषा की सरलता जनोपयोगी कथोपकथन लोकप्रिय गीति ध्वनियां सभी कुछ इसके परिचायक हैं।⁵² भारतेन्दु काल में हिन्दी नाटक के अन्तर्गत गद्य को स्थान मिलने लगा था। भारतेन्दु ने पुराने नाटकीय रीति रिवाजों को तोड़कर सर्वप्रथम छोटे अंकों एवं दृश्यों की परम्परा चलाई। उस युग में दर्शक एवं पाठक यह भूल चुके थे कि नाटक कैसा होना चाहिए इसलिए भारतेन्दु ने उन्हें समझाने के लिए नाटकीय अनुवाद किए। भारतेन्दु के नाटकों में कथानक सामाजिक हैं। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से जन जागृति पैदा करने का उपक्रम किया। इन्हीं के लिए भारतेन्दु ने नाटक लिखे और खेले।

भारतेन्दु युगीन नाटकों में गीत—योजना— इस युग के नाटकों में बहुत से गीतों की रचना की गई, जो भावुकतापूर्ण तथा मनोहारी हैं। नीलदेवी के पाँचवें दृश्य में देवीसिंह का गीत इस काल के गीतों का प्रत्यक्ष उदाहरण है—

“प्यारी बिन कटत न कारी रैन,

पल छिन न परत जिय हाय चैन

तन पीर बढी सब छुट्यौ धीर,

कहिं आवत नहिं कछु मुखह बैन

जिय तड़फड़ात सब जरत गात,

टप टप टपकत दुख भरे नैना ”

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के चन्द्रावली नाटिका के अंतर्गत कई गीतों की रचना की गई है, जैसे— ललिता चन्द्रावली की विरह वेदना व्यक्त करती हुई गीतों के माध्यम से कहती है—

“ छिपाये छिपत न लगे

उधरि परत, सब जान जात है धूँधट में न खगे

कितनों करौ दुराव दुरत नहीं जब ये प्रेम पगे

निडर भये उद्यरे से डोलत मोहन रंग रंगे ”⁵³

आदि चन्द्रावली स्वयं अपने वेदना गीत के माध्यम से प्रकट करती हुई कहती है—

“मनमोहन ते बिछुरी जब सौ

तन आंसुन सों सदा धोवती है

‘हरिश्चन्द्र जू’ प्रेम के फन्द परी

कुल की कुल लाजहि खोबती है।

इस युग के नाटककारों ने गीत रचना के साथ—2 कोष्ठक में सांगीतिक निर्देश भी दिए हैं। गीतों के साथ रागों का तथा वाद्यों का वर्णन भी इस युग के नाटककारों में दृष्टिगोचर होता है। जोगिन के गीत के पूर्व सारंगी का स्पष्ट उल्लेख करते हुये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहते हैं—

जोगिन— (सारंगी छोडकर गाती हैं)

“पचि मर बृथा सब लोग जाग सिर धारी

साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नाटी

विरहागिन धूनी चारों ओर लगाई

बंसी धुनि की मुद्रा कानों पहिराई ”

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के चन्द्रावली नाटिका में ‘ललिता के गीत से पूर्व राग विहाग का वर्णन किया है, यथा—

ललिता— (राग विहाग)

“अलख गति जुगम पिया प्यासी की

को लखि सकै लखत नहीं आवै तेरी गिरधारी की,

बलि—2 बिछुरनि मिलिन हँसनि रूठनि नित ही यारी की

त्रिभुवन की सब रति गति यति छवि या पर बलिहारी की ”

“सम्भवतः नाटक में गीतों के विधान की प्रवृत्ति पूर्व संस्कृत परम्परा तथा पारसी रंगमंचीय नाटकों के प्रभाव का ही परिणाम थी। भारतेन्दु युग को नाटक का नवोत्थान युग कहा जाता है। इस युग में पद्य की अपेक्षा गद्य को महत्वपूर्ण माना जाने लगा। इसके साथ—साथ पद्यात्मक रूप में भावनाओं का समावेश इस युग की महान देन मानी जाती है। खड़ी बोली को निश्चित रूप देकर गद्य की प्रधानता इस युग के नाटक की मुख्य विशेषता है। इस युग का नाटक अपने अनिवार्य गुण अभिनेयत्व को स्वीकार कर उन्नति की तरफ अग्रसर हुआ। विभिन्न प्रकार के नाटकों की विशेषताओं को समन्वित कर एक नई हिन्दी नाटक की परम्परा चलाई गई। इस युग के नाटकों में—संस्कृत, बंगला, पश्चिमी और लोक

नाटकों के प्रभाव स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। नाटकों के आरम्भ में मंगलाचरण, सूत्रधार, नेपथ्य का प्रयोग— संस्कृत नाटकों से गीत, रासलीला की चित्रसज्जा, पद्यात्मक संवाद लोक नाटकों से, मंच सज्जा तथा अंकों का दृश्यों में विभाजन बंगला और पाश्चात्य नाटकों से लिए गए हैं। 'भारतेन्दु युग' हिन्दी नाटक के लिए नींव का पत्थर था।⁵⁴

भारतेन्दु : अभिनेता एवं प्रस्तोता—

भारतेन्दुजी के युग में चार प्रकार के रंगमंच प्रचलित थे: (1) रामलीला, (2) रास लीला, (3) नौटंकी और (4) पारसी। वे जानते थे कि उन्हें अपने नाटकों द्वारा इन सभी वर्गों के दर्शकों को आकर्षित करना है तथा उनके मन में देश के अतीत, आगत और अनागत की यथार्थ स्थिति को अंकित करना है।

भारतेन्दु युगीन नाटककार रंगमंचीय आयामों के प्रति सजग रहे। उन्होंने रंगमंच निर्माण, रंगदीपन, प्रेक्षास्थल आदि की पूर्ण जानकारी दी है। साथ ही हिन्दी रंगमंच पर एक ओर तो शास्त्रीय नाट्य परम्परा के अनुसार नांदी पाठ, सूत्रधार आदि का समावेश किया और दूसरी ओर पद्यात्मक संवाद आदि की भी व्यवस्था लोक रंगमंच से ग्रहण की। परदों पर चित्र, रंगमंच की बहुविध सज्जा द्वारा दृश्य—प्रदर्शन आदि से हिन्दी—रंगमंच ने एक आदर्श रूप ग्रहण किया इस युग में नाटककारों ने पारसी (रंगमंच) रंग—परम्परा की कृत्रिम अभिनय पद्धति से असन्तुष्ट होकर भावाभिनय को अपने ढंग से विशेष महत्व दिया। इस प्रकार हिन्दी—रंगमंच को कलात्मक प्रौढ़ता और उदारता प्राप्त हुई तथा भारतीय जन जीवन को आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति मिली। निश्चय ही भारतेन्दु युगीन अव्यावसायिक रंगमंच पारसी थियेटर की सस्ती रंग—विधियों का विरोधी रहा और जनरुचियों का परिष्कार करने का प्रयत्न करता रहा। इस युग में सम्पूर्ण हिन्दी—प्रदेश में नवीन रंगमंच का उदय हुआ तथा हजारों की संख्या में नाट्य प्रस्तुतीकरण हुए। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनकी रचना रंग—प्रक्रिया के अंतर्गत हुई। इनकी नाट्य रचना—प्रक्रिया में अभिनेयता का तत्व इतना धुला—मिला है कि अपने आप में एक नवीन रंगदृष्टि की तलाश का बोध प्रस्तुत करता है। यह रंगदृष्टि नाटक और रंगमंच की पारस्परिकता को दृढ़ सूत्र प्रदान करती है। भारतेन्दु के रंगमंच संबंधी प्रगतिशील विचारों ने साहित्यिक नाटक तथा रंगमंचीय नाटकों के कृत्रिम आरोपित विभाजन को समाप्त कर दिया। हिन्दी का पूरे जीवन के साथ नवीन रंग—दिशा—निर्देश दिया।⁵⁵

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी रंगमंच के अभ्युत्थान में भारतेन्दु और उनके युग का ऐतिहासिक महत्व है। भारतेन्दु युग में हिन्दी रंगमंच को एक निश्चत दिशा भी मिल गयी। भारतेन्दु कालीन मंच पर ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक नाट्य कृतियों का प्राधान्य था। ये कृतियां आदर्श यथार्थ पूर्ण तो था ही साथ ही इनमें व्यंग्य और विद्रोह का भी पुट था। भारतेन्दु कालीन नाट्य प्रस्तुतीकरण मुख्य रूप से जन जागरण के लिए और गौण रूप से कलात्मक मनोरंजन के लिए होता था। अभिनीत नाटकों में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का प्राबल्य था। सामाजिक नैतिकता और मानवीय मूल्यों की रक्षा भी इनका उद्देश्य था। वस्तुतः यह युग

सुधारवादी था इसलिए तत्कालीन नाट्य कृतियां सामाजिक आदर्श से ओत प्रोत दिखाई देती हैं। भारतेन्दु कालीन हिन्दी मंच पर अभिनय को पर्याप्त महत्व दिया जाता था। अभिनय कला में अतिनाटकीयता अधिक थी। उच्च स्वर, संगीत पूर्ण वाणी और सुन्दर आकार प्रकार को अधिक प्रज्ञय दिया जाता रहा है। इस युग में स्त्री पात्रों की भूमिकाएं भी पुरुष ही किया करते थे।

स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग का हिन्दी रंगमंच के इतिहास में अभूतपूर्व योगदान रहा है।⁵⁶

2.4.2 प्रसादयुगीन हिन्दी रंग-परम्परा

भारतेन्दु के पश्चात् लगभग चालीस वर्ष तक हिन्दी रंग-परम्परा में रंगमंच के विकास में कोई प्रगति नहीं हुई। भारतेन्दु की अल्पायु में मृत्यु का सबसे अधिक घातक प्रभाव हिन्दी-नाटक और रंगमंच पर ही पड़ा। उनके बाद नाटक के क्षेत्र में कुछ दिनों तक वैसी उन्नति दिखाई नहीं दी। बाबू कृष्ण दास के नाटक 'महाराणाप्रताप' और 'राजस्थान केसरी' के कुछ दिनों तक धूम अवश्य रही। उसका अभिनय भी बहुत बार हुआ, पर राय देवी प्रसाद पूर्ण ने 'चन्द्रकला-भानुकुमार' नामक एक बहुत विस्तृत नाटक लिखा, वह साहित्य के विविध अंगों से पूर्ण होने पर भी वस्तु वैचित्र्य के अभाव तथा भाषणों की कृत्रिमता आदि के कारण उतना अधिक प्रसिद्ध न हो सका। इसके बाद नाटक की गति बहुत धीमी रही। हिन्दी प्रेमियों के उत्साह से स्थापित प्रयाग और काशी की नाट्य मण्डलियों जैसे-'भारतेन्दु नाट्य मण्डली' के लिये रंगमंच के अनुरूप एक दो छोटे-मोटे नाटक अवश्य लिखे गये, पर वे साहित्यिक प्रसिद्धि न पा सके।

प्रसाद से पूर्व, द्विवेदी काल में लेखकों ने स्वतंत्र नाटक इसलिए बहुत कम लिखे थे क्योंकि निबन्ध, कहानी और उपन्यास को लेकर आगे बढ़ने वाले इस युग में अधिकांश साहित्यकार खड़ी बोली कविता के प्रति चुनौतियाँ झेलने में व्यस्त रहे। भाषा-परिवर्तन के इस काल में नाटक, जैसी रम्य एवं रचनातंत्र की दृष्टि से विशेष टेकनीक प्रधान विधा की ओर उन्हें बढ़ा ही नहीं पाया। स्वयं मैथलीशरण गुप्त के नाटक, नाटकीयता के अभाव में ख्याति न पा सके, किन्तु द्विवेदी युग, नाट्य साहित्य एवं रंगमंच की दृष्टि से पूर्णतया महत्वहीन भी नहीं है। माखनलाल चतुर्वेदी ने इसी काल में 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नामक नाटक लिखा, जिसकी रंगमंचीय सफलता बार-बार सराही गयी। जबलपुर में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर इसका अभिनय बहुत ही सफलता पूर्वक किया गया। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने, इसी समय पाँच नाटकों की रचना की—'जयन्त', 'प्रेमलोक', 'स्वप्नों के चित्र', 'पैसा परमेश्वर', 'अजनवी' ये सभी नाटक अभिनीत हुए। 'पैसा परमेश्वर' तो प्रयोग कुशलता के कारण हिन्दी का पहला समस्या नाटक कहलाने का अधिकारी है। इस काल के

नाटककार, स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में अपनी कोई विशिष्ट मूर्ति न उभार सके। मौलिक नाट्य—साहित्य और उसकी रंग—चेतना का समृद्ध करने की सच्ची लगन रखने वाले लोग संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों के सफल अनुवाद में लग गये। सफल अनुवादों के कारण ही यह काल नाटक के क्षेत्र में अनुवाद काल भी कहलाता है। वैसे द्विवेदी युग का योगदान नाट्य—रचना के क्षेत्र में न होकर नाट्य—प्रस्तुति के क्षेत्र में अधिक रहा।

हिन्दी—रंगमंच के व्यवहारिक पक्ष की सक्रियता का संगठित प्रयास लगातार किया गया, जिनके फलस्वरूप भारतेन्दु के पद चिन्हों पर चलने वाली अनेक नाट्य—मण्डलियाँ, स्थान—स्थान पर सक्रिय हुईं। जिन्होंने उर्दू, अंग्रेजी तथा हिन्दी के अनेक नाटक प्रस्तुत किए, किन्तु इन नाट्यशालाओं ने हिन्दी—रंगमंच के विकास में कोई रचनात्मक योग नहीं दिया।

प्रसाद न तो भारतीय नाट्य—परम्परा के अनुकर्ता मात्र हैं और न पश्चिमी नाट्य—शैलियों के अनुसरणकर्ता ही, वे एक सजग एवं सचेत आधुनिक कलाकार थे।⁵⁷ उन्होंने वर्तमान के प्रतिबिम्ब को अतीत के दर्पण में देखने का प्रयत्न किया। उन्होंने विशाल, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त मौर्य और ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों की रचना की। चरित्र—प्रधान एवं सुखान्त—दुखान्त की परम्परा से हटकर उनके नाटक एक अलग रूप में प्रसादान्त हैं।

प्रसाद ने तत्कालीन व्यावसायिक रंगमंच के नाटककारों की रचनाशैली का विरोध किया और नाटकों में एक सांस्कृतिक गांभीर्य की स्थापना की, जिसका अनुकरण प्रसादोत्तरकालीन अनेक नाटककारों ने किया।⁵⁸

प्रसाद कालीन नाटकों में कथानक का वैचित्र्य, मनोवैज्ञानिक चरित्र—चित्रण, हास्य के दृश्यों की योजना, आधुनिक जीवन का वातावरण, स्वाभाविक संलाप, साहित्यिक भाषा, स्थिति के अनुकूल सुरुचिपूर्ण गीत्यात्मक पद्य का प्रयोग, रसवत्ता इत्यादि गुण परिलक्षित होते हैं। इनका एक साथ सम्मेलन इस युग के पूर्व के किसी भी नाटक में नहीं मिलता है।

“जयशंकर प्रसाद ने जिस समय नाटक के क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय तक भारतेन्दु ने जिस रंगमंच की स्थापना की थी, वह उनकी मृत्यु के पश्चात् मृत प्रायः ही हो गया था। द्विवेदीयुगीन साहित्य—प्रेमियों ने बड़ी लगन के साथ बहुत अधिक प्रयत्न किये, किन्तु पर्याप्त साधनों के अभाव में वे आगे न बढ़ सके। प्रसाद को अपने नाट्य—रचनाकाल के समय केवल पारसी थियेटर ही दिखाई दिया, जिसकी ‘फूहड़ मण्डली’ से उनकी श्रेष्ठ एवं परिष्कृत साहित्यिक अभिरुचि का कोई तालमेल नहीं बैठा। स्वयं प्रसाद भी अनुभव कर रहे थे कि किस प्रकार रंगमंच का अभाव नाट्य—रचना के विकास मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बना हुआ है। उन्हें नाट्य रंगकर्मी के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का पूरा—पूरा बोध था तथा हिन्दी—रंगमंच के समुचित विकास की उनकी हार्दिक इच्छा थी। उन्होंने बार—बार यह संकेतिक किया है, “रंगमंच के संबंध में यह भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाये, प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिये रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है।”⁵⁹ अपने समय के रंग—संकट को भोगते हुए वे अपने नाटकों के लिये उपयुक्त

रंगमंच की मांग कर रहे थे। उन्होंने बार-बार यह स्पष्ट किया है कि उनके नाटक पारसी थियेटर जैसे घटिया रंगमंच कि लिए नहीं है। उनके नाटकों के स्वभाव के अनुकूल रंगमंच होना चाहिए, तभी नाटकों का सही-सही सम्प्रेषण संभव हो सकेगा। प्रसाद का इस विषय में भी मानना था कि नाटकों में निहित काव्यात्मकता को अक्षुण्य रखते हुए रंगमंच का अपना स्वरूप निर्मित करना चाहिए क्योंकि कलात्मकता विहिन नाटक अपनी कलात्मक क्षमता में कमजोर हो जाता है। जीवन की गहन अनुभूतियाँ अपने सम्पूर्ण आयामों में प्रकट नहीं हो पाती है।

नाट्य-रचना की दृष्टि से तो प्रसाद-युग की हिन्दी के नाट्य-साहित्य का उत्कर्ष काल रहा।

प्रसाद की हिन्दी रंगमंच को देन

प्रसाद ने अपने नाट्य प्रयोगों और कलात्मक उपलब्धियों द्वारा विशिष्ट योगदान किया है और हिन्दी साहित्य में अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की है। डॉ. गोविन्द चातक ने लिखा है— कि 'गद्य की सी गरिमा भर देने तथा गीतों और कविताओं को महत्वपूर्ण स्थान देने के कारण प्रसाद के नाटकों की आत्मा संस्कृत नाटकों की भांति काव्यमयी बन जाती है।⁶⁰ प्रसाद के नाटक दृश्य-विधान, वस्तु नेता और रस की दृष्टि से संस्कृत नाटकों के सदृश्य हैं और रंगसंकेतों दृश्य सज्जा, वेशभूषा और गति आदि भी संस्कृत परम्परा की तरह संवादों में ही व्याप्त है। यहाँ तक कि कई नाटकों में संवाद योजना का प्रयोजन ही दृश्य विधान और क्रिया-व्यापार को रूपायित करता है। प्रसाद के नाटकों में गीत, कविताओं के साथ नृत्य की प्रवृत्ति भी संस्कृत से अपनाई गई है। प्रसाद के नाटकों में आकर्षक दृश्यों के पीछे पारसी प्रभाव है।

कुछ विद्वानों का यह मत है कि प्रसाद के नाटकों में रंगमंचीय परिस्थितियों की ओर ध्यान कम और साहित्यिक सौष्ठव की ओर अधिक पाया जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रसाद ने संस्कृतम की दृश्य विधायक संवाद परम्परा को पुनः सुधारा है, नाटक में शब्दों को नाटकीय मौलिकता एवं अर्थवक्ता प्रदान की है।

प्रसाद ने भारतेन्दु कालीन राष्ट्रीय विचारधारा को बल प्रदान किया है और परम्परा का निर्वाह किया है। उनके गीतों में परिस्थिति विशेष का उद्घाटन, 'मनोरंजकता', 'मानवी प्रेम' और 'ईश तथा देश-प्रेम' भी है।⁶¹

प्रसाद युगीन नाटकों की विशेषताएँ

1. प्रसाद युगीन रचनाओं में प्रायः सभी रसों के साथ-साथ श्रृंगार, वीर तथा शांत रस अत्याधिक मात्रा में दृष्टिगत होता है।
2. प्रसाद युग नवीन तथा प्राचीन कड़ी के रूप में है। इस काल की अधिकतर रचनाएँ ऐतिहासिक कथावस्तुओं पर आधारित है।

3. प्रसादयुगीन नाटक प्रायः प्रसादांत कहे जाते हैं अर्थात् वे न तो सुखान्त हैं, न ही दुखान्त। प्रत्यक्ष रूप से सुखान्त होते हुए भी उनमें अवसाद की अन्तःधारा व्याप्त मिलती है, जिसके फलस्वरूप उन्हें प्रसादान्त कहा जाता है।
4. प्रसाद मूलतः कवि हैं, अतः कहीं-कहीं नाटक में कवित्व के प्रवाह ने नाटकीय सीमाओं का उल्लंघन भी किया है।
5. सामान्य रूप से संवाद विषय संगत है, जिससे पात्रों के व्यक्तित्व का निखार तथा कथा को गति मिली है, परन्तु कहीं-कहीं संवाद अनावश्यक रूप से लम्बे भी हो गये हैं। प्रसाद का मानना है कि 'रंगमंच' के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाते हैं, प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो।⁶²
6. प्रसाद युगीन नाटकों की भाषा संस्कृतनिष्ठ, गीतिमय तथा अलंकारपूर्ण है, जिसका आधार शब्द सौन्दर्य है, परन्तु वह भाव सौन्दर्य को साथ लिये हुए हैं।
7. इस युग के नाटकों में बहुरंगी तथा गम्भीर पात्रों की सृष्टि हुई है।⁶³

वास्तव में प्रसादयुगीन नाट्यरचनाओं तथा भारतेन्दु युगीन नाट्यरचनाओं में कोई विशेष अन्तर देखने को नहीं मिलता। काव्यात्मक वातावरण, आदर्शवाद और नाटकीय न्याय आदि में नाटककारों ने परम्परावादिता को ही अपनाया है। यद्यपि प्रसाद के नाटकों में मौलिकता (नवीनता) के दर्शन हुए हैं; परन्तु प्रसाद का अनुकरण समसामयिक नाटककारों ने ही नहीं किया अपितु वे तो परम्परावादी पद्धति का ही अनुकरण करते हुए प्रतीत होते हैं।

प्रसाद युगीन नाटकों की संगीत योजना

प्रसाद के नाटकों में संगीत उनकी कविता का स्वर है। प्रसादयुगीन नाटकों में गीतों के माध्यम से नाटक की कथावस्तु को अतिसुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। नाटकों में गीतों की रचना से स्पष्ट है कि नाटक के लिए संगीत एक आवश्यक तत्व है। प्रसाद ने संगीत तथा काव्य के सामंजस्य के माध्यम से नाटकों को नया रूप विधान, नई भाषा और आन्तरिक संवेदना प्रदान की है। मंचीय गीत, प्रसाद के नाटकों में भिन्न-भिन्न विषयों से सम्बंधित गीत उपलब्ध हैं, जिन्हें मुख्यतः दो भागों में निम्नलिखित ढंग से बाँटा जा सकता है।

प्रसाद के नाटकों के मंचीय गीत



भाव गीत— विरहिणी का अतृप्त प्रेम, प्रेमोन्मत्त नारी का मत्त प्रलाप, असफल व्यक्ति का हृदयोद्गार, मातृभूमि का ममत्व, देशप्रेमी की सत्यनिष्ठा, पराजित के अश्रु, अध्यात्म का चिन्तन, भावना का आरोह—अवरोह आदि विषयों सम्बन्धित गीत भाव—गीत की श्रेणी में आते हैं। प्रसाद के नाटकों में गीतों की विषयवस्तु कथावस्तु के अनुसार भिन्न—भिन्न स्थानों पर भिन्न—भिन्न रूप धारण किए हुए है।

कलात्मक गीत— इस श्रेणी में वे गीत आते हैं, जिनमें संयुक्ताक्षरों, अनुस्वरों—ढ, ण, ज, झ आदि व्यंजनों के कारण प्रयाण गीत का सौष्ठव चमक उठा है। इनके छन्द भी शब्दों की ध्वनि के अनुरूप हैं। इन गीतों पर स्वर और लय पर नृत्य होता है और छन्द वीरभावों के साथ होता है।⁶⁴

संक्षिप्त रूप से कहा जा सकता है भारतेन्दु ने जिस कार्य को प्रारम्भ किया था, प्रसाद ने उस कार्य में अपना सहयोग देकर आगे बढ़ाया। प्रसाद युग में दुरुह शैली तथा नाटक में गीतों का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने नाटक को रंगमंच के लिए नहीं अपितु 'नाटक के लिए रंगमंच' होना चाहिए, इस बात पर बल दिया। इस प्रकार उन्होंने नाटक के विस्तृत अर्थ को स्पष्ट करते हुए नाटक को सीमाओं में नहीं बाँधा।

2.4.3 प्रसादोत्तर युगीन हिन्दी रंग—परम्परा

प्रसादोत्तर काल का नाट्य साहित्य समृद्ध एवं विशाल होने के साथ—2 पर्याप्त विविधता रखता है। वास्तव में प्रसाद के बाद हिन्दी नाट्य साहित्य में एक नवयुग का आरंभ होता है। इस समय के नाटककारों ने भारतेन्दु और प्रसाद द्वारा प्रचलित परम्पराओं व प्रयोगों में प्रशंसनीय परिष्कार अपूर्व विस्तार एवं प्रसार ही नहीं किया अपितु प्रत्युत विभिन्न नवीन नाट्यशैलियों का विकास भी किया। भारतेन्दु के नाटकों की प्रमुख प्रवृत्ति समाज संस्कार एवं देशप्रेम विषयक है। प्रसाद की रचनाओं में सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना प्रबल है। किन्तु प्रसादोत्तर काल में अनेकानेक प्रवृत्तियों यथा—मानवतावादी, आदर्शवादी, सुधारवादी, साम्यवादी, यथार्थवादी, बुद्धिवादी, व्यक्तिवादी, प्रतीकवादी जैसे— मनोविश्लेषणवाद, यौनवाद, आत्मभिव्यंजनावाद, रूपविधानवाद, प्रकृतिवाद आदि प्रस्फुटित है। बड़े नाटकों की अपेक्षा इस युग में एकांकी नाटक तथा श्रव्य नाटकों को भी अत्याधिक विकसित एवं कलात्मक रूप प्राप्त हुआ है।

रंगमंच की महत्ता को स्वीकार कर पाश्चात्य विद्वान् एल्मर राइस ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया— "नाटक का मूलसार शब्द नहीं वरन् क्रियाकलाप है। नाटक खेलने के लिये ही लिखे जाते हैं।" डॉ. रामकुमार वर्मा भी इस तथ्य को स्वीकारते हैं— "किसी भी भांति के नाटकों की उत्कृष्टता का प्रश्न और निर्णय बिना मंच के संपर्क के नहीं हो सकता। यदि नाटक प्राण है तो मंच उसका शरीर।"

प्राचीन भारतीय परम्परा में भी नाटक को काव्य के अंतर्गत स्वीकार करते हुए भी उसके प्रदर्शन पक्ष पर पूर्ण बल दिया गया था। प्रसादोत्तर काल में भारतवर्ष में ऐसी अनेक घटनाएं घटित हो रही थीं, जिनके कारण सामाजिक और सांस्कृतिक धरातल पर भी विघटित तत्व परिलक्षित होते हैं। नवीन औद्योगिक आर्थिक प्रणालियों तथा आधुनिक यातायात की सुविधा के कारण सामाजिक तथा मानवीय मूल्यों में बदलाव आने लगा, सामाजिक प्रतिष्ठा का जातिगत आधार नष्ट हो गया, और उसका स्थान सामाजिक आर्थिक वर्गों ने ले लिया। जटिल आर्थिक स्थितियों की कटुता, मध्यम वर्ग को विशेष कर निम्न मध्यम वर्ग को क्षीण कर रही थी, तो दूसरी ओर पूंजीवर्ग अपनी अपार एवं प्रबल शक्ति लेकर उभर रहा था। इन दो पाटों के बीच बुद्धिवादी परन्तु आर्थिक स्थिति से कमजोर मध्यम वर्ग पिस रहा था, इसी कारण वह धुटन अनुभव करने लगा, अपनी अस्तित्वहीन स्थिति की प्रतिक्रिया स्वरूप वह समाज पर प्रहार के लिये आतुर हो उठा। यही कारण है कि इस काल में समस्या नाटकों ने जन्म लिया, जिसकी मूल भाव धारा सामाजिक विद्रोह ही है। उज्ज्वल भविष्य के प्रति निराशा तथा जटिल परिस्थितियों में आक्रांत यह बुद्धिवादी मध्यम वर्ग निषेधात्मक तथा अराजकतावादी दृष्टि लेकर आया। सामाजिक मान्यताएं तथा अन्य सभी आदर्श मूल्यों की उपेक्षा के कारण दिशाहीनता, धुटन और अलगाव ने कई सामाजिक पारिवारिक समस्याओं को जन्म दिया, इन्हीं समस्याओं को आधार बना कर प्रसादोत्तर काल में अनेक नाटक लिखे गये। ऐसे नाटकों में प्रायः काम-कुण्ठा की तृप्ति तथा व्यक्तिगत अनुभूतियों का चित्रण ही होता था। डॉ. विजय बापट लिखते हैं— “प्रसादोत्तर काल कला की दृष्टि से धीरे-धीरे पुराण, इतिहास अतीतोन्मुखता से मुक्ति का काल है।” इस युग में स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में रंगमंचीय गतिविधियां आरंभ हुईं, रेडियो और पाठ्यक्रमों के लिये भी नाटकों की आवश्यकता के परिणामस्वरूप हिन्दी नाट्य रचना ऐकांकी, रेडियो रूपक और पूर्णकालिक पाठ्यक्रमीय नाटकों की ओर मुड़ गई। प्रसाद के समय में नाटक में रंगमंच के बीच जो दूरी बन गई थी, प्रसादोत्तर काल के नाटककारों द्वारा इस दूरी को दूर करने का प्रयास किया गया। पश्चिम के नाटककारों से प्रभावित हो इस युग के कुछ नाटककार रंगमंच की दिशा में गतिशील होने लगे। इस समय के नाटकों को जो रंगमंच मिला भी, वह शिक्षा संस्थाओं का रंगमंच था। इन नाटकों की एकरसता तथा संयोजनहीन घटना विन्यास के कारण दर्शकों की संख्या सीमित थी।⁶⁵

प्रसादोत्तरकालीन-युग में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना ने नाटकों में ऐतिहासिक कथावस्तु को संजोकर रखा। इस युग के प्रतिनिधि एवं महान नाटककार— लक्ष्मीनारायणमित्र, सेठ गोविन्ददास, गोविन्द वल्लभ पंत, वृन्दावन लाल वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, चन्द्रगुप्त विद्यालंकर, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, सियारामशरण गुप्त, उपेन्द्रनाथ उश्क, सत्येन्द्र, सुर्दशन, जगदीश चन्द्र माथुर, देवराज दिनेश, चतुरसेन शास्त्री आदि नाटककारों ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना की।⁶⁶

हिन्दी नाटकों का प्रसादोत्तरकाल कला की दृष्टि से संस्कृत रचना शैली की रूढ़ियों और कथावस्तु की दृष्टि से पुराण, इतिहास और अतीतोन्मुखता से मुक्ति का काल है। इस काल में भाव-भूमि के नये क्षेत्र, विशेषकर यथार्थ की नयी भूमि पर शैली के नये प्रयोग हुए हैं। यह वह

काल है, जिसमें धर, समाज, जाति और देश की समग्र समस्याओं को सहजता से लेते हुए नाटककार ने व्यक्तिपरक (दाम्पत्य जीवन से लेकर कर्म के बाह्य धरातल तक के) सम्बंधों को सूक्ष्म रूप से विश्लेषण किया। इस काल में हिन्दी नाटक रंगमंच और जीवन के यथार्थ से जुड़कर नयी दिशा की ओर उन्मुख हुआ।

प्रसादोत्तरकालीन नाटक साहित्य की दो धाराओं की प्रधानता है— ऐतिहासिकता और कल्पनाश्रितता। यूं तो प्रसादकालीन अन्य धाराएं भी इसके समानान्तर चलती रहीं, किन्तु बौद्धिक और भौतिक परिवेश के बीच वे अधिक लोकप्रिय न हो सकीं।

इस काल के नाटकों में विशेष परिवर्तन उनकी कथावस्तु, भाव-भूमि और शिल्प आदि सभी क्षेत्रों में हुआ। इतिहास का स्थान वर्तमान जीवन ने ले लिया। पहले मौर्य-गुप्तकालीन इतिहास ने नाटकों की कथावस्तु का चयन किया जाता था, फिर मुगलकालीन और राजपूत इतिहास से कथावस्तु का चुनाव होने लगा और फिर इतिहास के अतीत बंधनों से नाटक की कथावस्तु की मुक्ति हो गयी और वर्तमान जीवन ही नाटकों का आधार बन गया।

इस युग के नाटकों में नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण प्रकट हुआ है। भावुकता के आधिक्य के कारण गीतप्रियता सर्वत्र प्रकट हुई है प्रत्येक नाटक में कोई-न-कोई ऐसा पात्र दिया गया है, जिसकी भावधारा गीतों के माध्यम से व्यक्त हुई। “हिन्दी नाटक-साहित्य के अतीत का यह दुर्भाग्य रहा है कि सांस्कृतिक दृष्टि-सम्पन्न नाटककार और कलाबोध युक्त रंग-निर्देशक का सम्मिलन नहीं हो सका।”

प्रसादोत्तरकालीन नाटकों में पौराणिक नाटकों का समावेश आधुनिक संदर्भों में हुआ है। इन नाटककारों में चतुरसेन शास्त्री, सद्गुरुशरण अवस्थी, रामवृक्ष बेनीपुरी, उग्र तथा रांगेय राघव आदि उल्लेखनीय हैं। उपेन्द्रनाथ ‘अशक’ पहले नाटककार हैं, जिन्होंने हिन्दी नाटक को रोमांस के कटधरे से निकालकर किसी सीमा तक आधुनिक भाव-बोध के साथ जोड़ा। उनकी दृष्टि केवल वर्तमान जीवन की समस्याओं पर केन्द्रित थी।⁶⁷

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जो कार्य भारतेन्दु तथा प्रसाद ने प्रारंभ कर आगे बढ़ाया था, वो प्रसादोत्तर युग में भी तीव्र गति से आगे बढ़ता चला गया। मुख्य अंतर यह है कि इस युग में नाटककारों ने संकुचित क्षेत्रों की अपेक्षा मनुष्य के जीवन के प्रत्येक पहलू पर नाटक लिखे।

प्रसादोत्तर की गीत योजना

प्रसादयुग के नाटकों में गीतों की संख्या अत्याधिक है, परंतु प्रसादोत्तर काल में संगीत का प्रयोग नाटक की कथावस्तु के अनुरूप अपेक्षाकृत कम किया गया। नाटकों में गीतों की अधिकता से स्वाभाविकता में कमी आती है। अतः प्रसादोत्तर काल के नाटककारों ने आवश्यकता अनुरूप ही संगीत का प्रयोग किया। वृन्दावन लाल वर्मा, उदयशंकर भट्ट, हरि कृष्ण प्रेमी आदि के नाटकों में इसी बदले हुए दृष्टिकोण के साथ गीत योजना की गई।⁶⁸

हिन्दी-रंगमंच के आंदोलन को विकसित करने में मोहन राकेश के नाटको का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने पांचवे दशक की मृत प्रायः हिन्दी रंगमंचीय चेतना को पुनर्जीवित किया। उन्होंने अपने नाटकों में विस्तृत रंग-निर्देशों से नाट्य-शैली और नाट्य-निर्देशन को इतना निकट ला दिया कि वे एक-दूसरे के लिए पूरक बन गए हैं। उनके नाटक उनकी समृद्ध रंग चेतना के ज्वलंत प्रमाण हैं, जिन्होंने रंगमंच की नई सम्भावनाओं की ओर हिन्दी संसार का ध्यान आकृष्ट किया है।⁶⁹

“इस युग में जहां एक ओर जगदीश चन्द्र माथुर और धर्मवीर भारती ने हिन्दी रंग-परम्परा में नई शैली, शिल्प और भाव-बोध को विकसित कर रंगमंच को सार्थकता प्रदान की, वहीं दूसरी ओर मोहन राकेश ने कथ्य और रंग-शिल्प की दृष्टि से असीम संभावनाओं के द्वार खोले। उन्होंने अपने रंग-नाटकों में हिन्दी रंगमंच को लेकर न केवल नूतन प्रयोग किये अपितु उसे नई दिशा की ओर अग्रसर कर, नई शक्ति और गरिमा प्रदान की। उन्होंने हिन्दी रंगमंच के अभिजात्य को ध्वस्त कर, उसे जनसाधारण से जोड़ने का कार्य किया। उन्होंने अपने रंग-नाटकों में ‘आषाढ़ का एक दिन’, ‘लहरों के राजहंश’, ‘आधे-अधूरे’ आदि नाटकों में परम्परागत नाट्य संरचना से एक भिन्न कोटि की नाट्य-संरचना का प्रयोग किया, जिसमें आषाढ़ का एक दिन एक भावना प्रधान नाटक होते हुए भी प्रसाद की शैली का निषेध करके अपनी शैली खुद बनाता है। हिन्दी रंगमंच और नाट्य-साहित्य के इतिहास में पहली बार ‘आषाढ़ का एक दिन’ नाटक में यथार्थवादी रंगमंच, सीमाओं की संभावनाओं में बदल गया है। अपरिवर्तित दृश्यबंध की समय की परिवर्तनशीलता से टकराकर मोहन राकेश ने समय की शक्ति के प्रभाव को और सधन कर दिया।”

इस प्रकार प्रसादोत्तर काल में हिन्दी नाटक आदर्श के घरातल से उठकर यथार्थ के निकट आने लगा। संक्षेप में प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक एक विचित्र स्थिति में आगे बढ़ने की कोशिश करता रहा है। विचित्र इसलिए, चूंकि भारतेन्दु ने अपने युग में नाटक को रंजन के बहाने पुनरुत्थान और जन-जीवन में परिवर्तन की प्रक्रिया का माध्यम बनाया, यह परंपरा प्रसाद-युग में कुंठित हो गयी। यही कारण है कि इस युग के नाटककारों के समक्ष नहीं के बराबर परंपरा की विरासत उपलब्ध थी। इसके साथ-साथ चलचित्रों की लोकप्रियता तथा हिन्दी-भाषी प्रदेश की विशिष्ट मानसिकता ने भी मानों हिन्दी नाटक के विकास में बाधाएं पहुंचाई।

2.5 वर्तमान और आधुनिक रंगमंच का विकास

आधुनिक भारतीय नाट्य साहित्य का इतिहास एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। इस्लाम धर्म की कट्टरता के कारण नाटक को मुगल काल में उस प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिला जिस प्रकार का प्रोत्साहन अन्य कलाओं को मुगल शासकों से प्राप्त हुआ था। इस कारण मुगल काल के दो-ढाई सौ वर्ष में भारतीय परम्परा की अभिनय शालाओं अथवा प्रेक्षागारों का सर्वथा लोप हो गया। अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में व्याप्त होने पर उनके देश की अनेक वस्तुओं ने हमारे देश में प्रवेश किया। उनके मनोरंजन के निमित्त पाश्चात्य नाटकों का भी प्रवेश हुआ। उन लोगों

ने अपने नाटकों के अभिनय के लिये यहाँ अभिनय शालाओं का संयोजन किया, जो थियेटर के नाम से अधिक विख्यात है। इस ढंग का पहला थियेटर कहा जाता है, प्लासी के युद्ध के बहुत पहले कलकत्ता में बन गया था। एक दूसरा थियेटर 1795 ई. में खुला। इसका नाम 'लेफेड फेयर' था। इसके 1812 ई. में 'एथीनियम' और दूसरे वर्ष 'चौरंगी' थियेटर खुले।⁷⁰



एथीनियम थियेटर



चौरंगी थियेटर

“उन्नीसवीं सदी में अवध के नवाब ‘वाजिद अलि शाह’ का ‘रहस’, नाटक और संगीत का अद्भुत संगम था। और उसके बाद अंग्रेज जब हिन्दुस्तान में आये तो अपने मनोरंजन के लिये तीन साधनों को ले आये। वे थे—

1. क्रिकेट।
2. क्लब।
3. थियेटर।”⁷¹

आधुनिक रंगमंच का वास्तविक विकास 19 वीं शती के उत्तरार्ध से आरंभ हुआ और विन्यास तथा आकल्पन में प्रति वर्ष नए-नए सुधार होते रहे हैं। यहां तक कि 10 वर्ष पहले के थियेटर पुराने पड़ जाते रहे हैं और 20 वर्ष पहले के अविकसित और अप्रचलित समझे जाने लगे हैं। निर्माण की दृष्टि से लोहे की ढाँचे वाली रचना, विज्ञान की प्रगति, विद्युत प्रकाश की संभावनाएँ और निर्माण संबंधी नियमों का अनिवार्य पालन ही मुख्यतः इस प्रगति के मूल कारण हैं। सामाजिक और आर्थिक दशा में परिवर्तन होने से भी कुछ सुधार हुआ है। अभी कुछ ही वर्ष पहले के थियेटर, जिनमें अनिवार्यतः खंभे, छज्जे और दीर्घाएँ हुआ करती थी, अब प्राचीन माने जाते हैं।

आधुनिक काल में व्यावसायिक तथा साहित्यिक रंगमंच के उदय से पूर्व हमारे देश में रामलीला, नौटंकी आदि के लोकमंच ने ही चार-पाँच सौ वर्षों तक हिन्दी रंगमंच को जीवित रखा। यह लोकमंच परम्परा आज तक विभिन्न रूपों में रामलीलाओं के अतिरिक्त महाभारत पर आधारित ‘वीर अभिमन्यु’, ‘सत्य हरिश्चन्द्र’ आदि ड्रामे तथा ‘रूप-बसंत’, ‘हीर-रांझा’, ‘विल्वामंगल’ आदि नौटकियां आज तक प्रचलित हैं। आधुनिक काल में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ रंगमंच को प्रोत्साहन मिला। फलतः समूचे भारत में व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ स्थापित हुईं।

आधुनिक रंगशाला में एक तल फर्श से नीचे होता है, जिसे वादित्र कक्ष कहते हैं। ऊपर एक ढालू बालकनी होती है। कभी-2 इस बालकनी और फर्श के बीच में एक छोटी बालकनी और होती है। प्रेक्षागृह में बैठे प्रत्येक दर्शक को रंगमंच तक सीधे देखने की सुविधा होनी चाहिये। इसलिये उसमें उपयुक्त ढाल का विशेष ध्यान रखा जाता है। ध्वनि उपचार भी उच्च स्तर का होना चाहिए। समय की कमी के कारण आजकल नाटक बहुधा अधिक लंबे नहीं होते, और एक दूसरे के बाद क्रम से अनेक खेल होते हैं। इसलिए दर्शकों के आने जाने के लिए सीढ़ियाँ, गलियारे, टिकटधर आदि सुविधाजनक स्थानों पर होने चाहिए, जिससे अव्यवस्था न फैले। 1890 ई. तक रंगमंच से चित्रकारी को दूर करने की कोई कल्पना भी न कर सकता था, किन्तु आधुनिक रंगमंचों में रंग, कपड़ों पर्दों और प्रकाश तक ही सीमित रह गया है। विद्युत प्रकाश के नियंत्रण द्वारा रंगमंच में वह प्रभाव उत्पन्न किया जाता है जो कभी चित्रित पर्दों द्वारा किया जाता था। प्रकाश से ही विविध दृश्यों का, उनकी दूरी और निकटता का और उनके प्रकट और लुप्त होने का आभास कराया जाता है। अब परिभ्रामी रंगमंच बनने लगे हैं, जिनमें एक दृश्य जो उसमें अन्यत्र पहले से ही सजा तैयार रहती है, सामने आ जाता है इसमें कुछ क्षण ही लगते हैं।

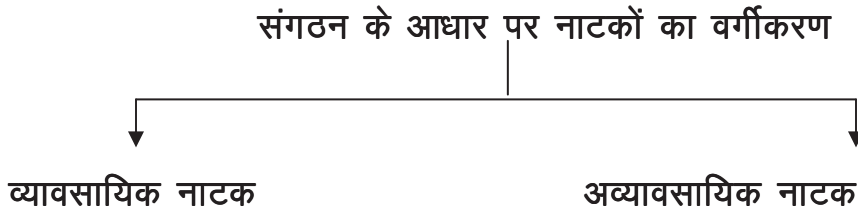


मदन थियेटर

यू तो पारसी थियेटर भी 1936-37 तक चलता रहा। परंतु तत्कालीन परिस्थियों के विरोध में व्यापक जागरूकता अभियान शुरू करने की दृष्टि से 1942 में गठित इप्ता ने एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। तमाम बुद्धिजीवी एवं प्रबुद्ध-प्रगतिशील साहित्यकार, चित्रकार, कलाकार और संगीतकार-गीतकार इत्यादि एक मंच पर एकत्रित होकर राष्ट्रीय स्तर पर एक सांस्कृतिक-राजनैतिक जनान्दोलन पैदा करने की कोशिश में लग गए। देश में एक प्रासंगिक, सार्थक और समय की समस्याओं से जुझते एक नए प्रकार के यर्थाथवादी रंगमंच ने जन्म लिया। देश भर में 'इप्ता' की बहुभाषी-बहुसंख्य शाखाएं सक्रिय हो गईं। फिल्मों से जुड़े होने के बावजूद 1944 में पृथ्वीराज कपूर ने पृथ्वी थियेटर की स्थापना का साहस दिखाया। परंतु जी तोड़ मेहनत और संघर्ष के बाद भी स्वयं पृथ्वीराज और उनका पूरा कपूर खानदान अंततः फिल्मों से ही जुड़ने को विवश हुआ। कुल मिलाकर पारसी थियेटर की ही तरह सिनेमा ने पांचवे दशक में 'इप्ता' और 'पृथ्वी' के अधिकांश कलाकारों को समा लिया।⁷² परंतु जल्दी ही पारसी थियेटर के रंगकर्मी और मालिकों ने व्यावसायिक दृष्टि से विकसित होते सिनेमा नामक इस नए और व्यापक चमत्कारी माध्यम को अपनाना शुरू कर दिया। सन् 1900 में कलकत्ता के रंग-प्रेमी हीरा लाल सेन ने अपने भाई की नाट्य-कम्पनी 'क्लासिक थियेटर' के बाग्ला नाट्य-प्रदर्शनों के साथ आयातित फिल्में दिखाना भी शुरू किया और कालान्तर में स्वयं भी कई नाटकों के लोकप्रिय दृश्यों का फिल्मांकन एवं प्रदर्शन करने लगे। एक समय में बम्बई की कमजोर पड़ती 'पारसी अल्फ्रेड', 'एल्किंसटन' तथा 'पारसी इंपीरियल' जैसी कम्पनियों को खरीदकर कलकत्ता में नाट्यान्दोलन को सक्रिय बनाने वाले 'मदन थियेटर लिमिटेड' के जमशेद जी फ्राम जी मदन ने भी थियेटर के साथ-2 पहले फिल्म प्रदर्शन और फिर फिल्म-निर्माण के क्षेत्र को अपना लिया। इन्होंने आगा हश्र कश्मीरी के शीरी फरहाद और राधेश्याम कथावाचक के शकुंतला तथा लैला मजनूं जैसे कई लोकप्रिय नाटकों को

फिल्म बना दिया। इसी प्रकार क्रमशः, थियेटर—राज्य पर सिनेमा—साम्राज्य स्थापित होता गया। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय रंगमंच एक व्यवसाय बन चुका था, और पूरी तरह से पारसी व्यवसायियों के हाथों में था। पौराणिक ऐतिहासिक युद्ध—कथाएं, भावुकतामय प्रेम कहानियां, अतिरंजनापूर्ण अभिनय, नृत्य, गीत, संगीत, आकर्षण भड़कीले रंग—विरंगे वस्त्र और सीन—सीनरी एवं हसी मजाक कुछ ऐसे तत्व थे जिन्होंने पारसी रंगमंच को अत्याधिक लोकप्रिय बनाया था।

आधुनिक युग नाटक मंडलियों एवं नाट्य संस्थाओं के संगठन के आधार पर तथा रंगशिल्प, अभिनय पद्धति और नाट्य की दृष्टि से विस्तार और विविधता का युग है। संगठन के आधार पर नाटक दो प्रकार का माना गया है, जिसे तालिका के माध्यम से समझा जा सकता है:



आधुनिक युग में व्यावसायिक मंच के संगठन के दो नये आधार सामने आये सहकारिता और अर्थ व्यावसायिकता। आधुनिक युग में लाउड—स्पीकर के बढ़ते प्रयोग ने स्वाभाविक अभिनय, भावों की सहज अभिव्यक्ति पर बल दिया। नाट्य शिक्षण के लिये संस्थाओं का निर्माण किया गया। नृत्य—नाटक, गीति—नाटक, गद्य—नाटक इत्यादि नाटक के विभिन्न रूप प्रचलित हुए हैं। नाटक में कई नए—नए प्रयोग भी हो रहे हैं। वर्तमान युग में नृत्य (बैले) का पश्चिमी प्रवृत्ति के अनुसार प्रदर्शन होता है। आधुनिक युग में संगीत—नाट्य (ओपेरा) बहुत कम लिखे गए हैं। आधुनिक युग में बच्चों की मनस्थिति को समझकर बाल—नाटक भी लिखे गए हैं।

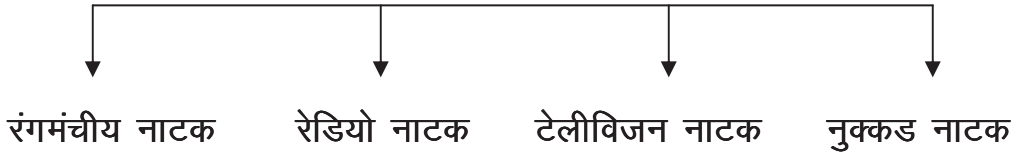
इस काल के नाटकों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

1. नृत—नाट्य
2. नृत्य—नाट्य
3. भाव—नाट्य
4. गीति—नाट्य
5. ऐतिहासिक नाटक
6. सामाजिक नाटक
7. पौराणिक या धार्मिक नाटक
8. एकांकी नाटक
9. सवोक्ति (स्वगत नाटक)
10. रेडियो रूपक

2.6 आधुनिक नाट्य प्रस्तुतीकरण के माध्यम

हिन्दी नाट्य मुख्य रूप से मंचीय विद्या है। अतः अधिकतर विद्वान नाटक का संबंध रंगमंच से जोड़ते हैं; परंतु रेडियो, टेलीविजन के माध्यम से नाटकों का प्रसारण आधुनिक युग की विशेषता बन गई है। संक्षिप्त रूप में नाट्य प्रस्तुतीकरण को चार भागों में बाँटा जा सकता है।

नाट्य प्रस्तुतीकरण के माध्यम



2.6.1 रंगमंचीय नाटक

रंगमंच और नाटक का गहरा तथा अटूट सम्बन्ध है। नाटक मात्र साहित्य नहीं अपितु प्रयोग (रंगमंच कला) की कला है। नाटक रंगमंच से ही उत्पन्न हुआ है और वहीं उसे पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। रंगमंच और नाटक का संबंध ही रंग-चेतना का स्वरूप निर्धारित करना है। रंगमंच को साहित्य की प्रयोगशाला कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रयोगशाला में वैज्ञानिक सूत्रों का परीक्षण करते हैं, उसी प्रकार नाटक में निहित साहित्य का परीक्षण रंगमंच पर होता है। रंगमंच नाटक के प्रस्तुतीकरण का प्रमुख साधन है। रंगमंच अर्थात् स्टेज के आकार तथा प्रकारों में समय के साथ-2 परिवर्तन आते रहे हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो जिस प्रकार नाटक की कला ने अपनी ऐतिहासिक यात्रा में विकास के कई चरण तय किए हैं उसी प्रकार रंगभवन, भवन और रंगमंच के स्थूल रूपों में भी निरन्तर परिवर्तन तथा प्रयोग होते रहे हैं।⁷³ “रंगमंच के लिये अंग्रेजी में प्रायः दो शब्द आते रहे हैं— स्टेज और थियेटर। स्टेज से तात्पर्य दृश्यबंध, यवनिका, प्रकाशयोजना, अभिनय, टिकटधर, सज्जागृह, प्रेक्षागृह, नाट्यमण्डप अर्थात् रंगमंच का स्थूल पक्ष। यह बाह्य स्थूल पक्ष उस आंतरिक सूक्ष्म स्वरूप को प्रस्तुत करने का साधन है। थियेटर में रंगमंच का स्थूल और सूक्ष्म दोनों पक्ष विद्यमान है। अपने प्रत्यक्ष अर्थों में रंगमंच किसी विषय वस्तु को अभिनय द्वारा प्रदर्शन करने की कला।”⁷⁴

उपरोक्त कथानुसार स्थूल पक्ष में दृश्य विधान, मंचसज्जा, प्रकाश व्यवस्था संगीत इत्यादि संलग्न है। यह नाटक के सहायक है जो कि प्रस्तुतीकरण में नाटक के उद्देश्य की पूर्ति के लिये सहायक होते हैं, उदाहरण के लिये मंच सज्जा, रूप सज्जा क्रमशः मंच तथा अभिनेता को नाटक के अनुरूप बनाता है तो दूसरी तरफ प्रकाश तथा संगीत नाटक के सांकेतिक अर्थ तथा भावों के प्रदर्शन में सहायता करते हैं।

(क) दृश्य विधान— रंगमंच पर सर्जित दृश्य कार्य, दृश्य बंध, दृश्य सज्जा, दृश्य विधान के कार्यक्षेत्र इसके अंतर्गत आते हैं। अभिनेता को पृष्ठभूमि प्रदान करने के लिये ही नहीं वरन् उसे पूर्ण मूर्त और सजीव स्वरूप देने के लिये दृश्य विधान अनिवार्य होता है।⁷⁵ रामगोपाल सिंह चौहान के कथानुसार—

1. दृश्य विधान ऐसा होना चाहिए, जो रंगमंच की सीमाओं में सरलता से प्रस्तुत और परिवर्तित किया जा सके।
2. दृश्य विधान पात्रों के स्तर, पात्रों के जीवन, पात्रों के मनोभावों, उनके जीवन तथा कथा की परिस्थितियों आदि को भी स्पष्ट कर सकें।
3. दृश्य विधान स्वाभाविक होना चाहिए, जो दर्शकों की कल्पना में कथा का पूर्ण और सजीव बिम्ब उपस्थित कर सके।
4. पात्रों में क्रियाशीलता उत्पन्न करने वाला दृश्य-विधान होना चाहिये।
5. दृश्य विधान नाटक की कथा की आत्मा, दृश्य के वातावरण को दर्शकों के सम्मुख स्पष्ट कर सके।

डॉ. अनीता राजूरकर ने अपने लेख में कहा— “दृश्य सज्जा के बिना नाटक अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता।”⁷⁶

श्री जगदीश माथुर के कथनानुसार— “पाश्चात्य देशों में प्रायः नाटक कही जाने वाली रचनाएं रंगमंच पर उतरी जाने से पूर्व प्रकाशित नहीं की जाती।”

दृश्य विधान से तात्पर्य दृश्य को सफल बनाने के लिये किया गया प्रयास है। जिससे दृश्य सज्जा अर्थात् मंच सज्जा के माध्यम से मंच पर नाटक के अनुरूप वातावरण बनाने का प्रयास किया जाता है, जिसे ग्रामीण आंचल पर आधारित नाटक को मंच पर प्रस्तुत करते समय ग्रामीणों द्वारा प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं का चयन किया जाता है, जैसे— हुक्का, चूल्हा, चारपाई इत्यादि। इसी प्रकार नाटक अगर शहरी जीवन का प्रतिबिम्ब है, तो शहर में प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं का चयन, जैसे— सोफा सेट, कुर्सी, मेज इत्यादि का चयन कर उस मंच को शहरी जीवन का आईना बना दिया जाता है।

(ख) प्रकाश व्यवस्था— नाटक में प्रतीकात्मक तथा सांकेतिक अर्थ प्रकाश के रंगों द्वारा स्पष्ट किए जाते हैं। उन रंगों की अपनी भाषा है। उदाहरण के लिये—

श्वेत प्रकाश —	पवित्रता तथा सुख का
अंधकार —	दुःख, पाप, दुष्ट वृत्तियों का
गुलाबी —	प्रेम का
लाल —	खून का
नीला —	आकाश की असीमता का ⁷⁷

प्रतीक माना जाता है।

तीव्र प्रकाश, पाद प्रकाश, शीर्ष प्रकाश, संधात उपकरण, यवनिका को प्रकाशित करने वाला विस्तृत कोण परावर्तक, समान्तर किरणों वाली लालटेन (पैरेलल बीम लैण्टर्न), संगम लालटेन (फोकस लैण्टर्न), कोमल आलोक बिन्दु प्रकाश, आलोक चित्र प्रक्षेपक, बिन्दु प्रकाश आदि।⁷⁸

प्रकाश एक तरफ भाव तथा परिस्थिति को प्रदर्शित करने में सहायक है तो दूसरी तरफ विभिन्न रंगों के माध्यम से नाटक की भाषा बनकर नाटक के भाव प्रदर्शन में सहायक है।

(ग) वेशभूषा— नाटक के पात्र को उसकी भूमिका में पहुँचाने का सशक्त माध्यम है, इसीलिए चरित्र, पात्र, नाट्य प्रकार तथा सामग्री को ध्यान में रखकर वेशभूषा का चयन किया जाता है। वेशभूषा के संबंध Ciero में कहते हैं— “Drama is a copy of life, a mirror of costume, a reflection of truth.”⁷⁹

संक्षेप में कहे तो वेशभूषा जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि अभिनेता का वेश अर्थात् अभिनेता को पात्रानुकूल बनाने के लिये अपना वेश परिवर्तन करना है।

दर्शकों के सामने अभिनेता को अभिनेता नहीं अपितु नाटक का पात्र बनकर उपस्थित होना पड़ता है। वेशविन्यास तथा रूप विन्यास रंगमंच की दृष्टि से अति-आवश्यक है। देश, काल, जाति और अवस्था के अनुरूप अभिनेता का रूप परिवर्तित करना रंगमंच का आवश्यक सिद्धांत है। नटरंग में कहा गया है कि जरूरी नहीं कि नए तथा सजे-धजे कपड़े पहने जाये।⁸⁰

अतः वेशभूषा अभिनेता को नाटक के पात्र के अनुरूप बनाने के लिए मुख्य सहायक है। पात्र के मंच पर आते ही उसकी वेशभूषा से दर्शक सहज ही भाँप लेते हैं कि वह भिखारी है या राजा।

(घ) रूप—सज्जा— रूप सज्जा अभिनेता के चरित्र के अनुसार रूप परिवर्तन की कला है। रूप सज्जा वह सज्जा है जो भूमिका के अनुरूप पात्र की मुखाकृति को कलात्मक रूप से प्रस्तुत करती है। उदाहरण— भिखारी के होंठ सूखे, आँखों के चारों तरफ कालापन, मुँह पर झाइयाँ, बालों का अस्त-व्यस्त होना उसकी जर्जर स्थिति को प्रदर्शित करता है तो दूसरी तरफ राजा के मुख पर लाली, होंठों पर हल्का गुलाबीपन, मस्तक पर तिलक, बालों की उचित व्यवस्था उसकी सम्पन्नता एवं शौर्य को प्रदर्शित करते हैं। अतः इसमें निम्न बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

1. चरित्रों की नस्ल का स्वरूप
2. शरीर—रचना और शरीर क्रिया संबंधी विशेषताएं
3. स्वास्थ्य
4. सुन्दरता या कुरूपता
5. त्वचा, केश और आँखों का रंग

6. डीलडौल⁸¹

रंगमंचीय नाटकों में संगीत की भूमिका— रंगमंचीय नाटकों में संगीत अत्याधिक भूमिका निभाता है। नाटकों में गीत योजना केवल मन बहलाने या रक्तिगुण के सम्पादन के लिये ही नहीं की जाती।

शब्दार्थमूलक भाषा की असमर्थकता को देखते हुए भरत ने नाट्य के अंतर्गत गीतों के प्रयोग का समर्थन किया था।⁸² रंगमंचीय नाटक में संगीत का प्रयोग विभिन्न रूपों में किया जाता है। डॉ. विश्व भावन देवलिया ने इसकी निम्नलिखित ढंग से व्याख्या की है—

1. रिक्तता पूर्ति के लिये संगीत प्रयोग—

जैसे— दृश्य परिवर्तन या पात्र योजना के भराव के निमित्त संगीत प्रभाव

2. मात्र अलंकरण के लिये संगीत प्रयोग—

जैसे— मनोरंजन के उद्देश्य से।

3. भावोद्दीपन के लिये संगीत प्रयोग—

जैसे— भाव और राग के मेल की पारस्परिक दृष्टि से नाटकीय दशा की चरमोत्कर्षता तथा रस से सम्बद्ध भावों के उद्दीपन हेतु संगीत का मेल।

4. कथा के विकास के लिये संगीत प्रयोग—

जैसे— पारम्परिक शैली में कथागायक द्वारा कथा विकास हेतु संगीत का सार्थक उपयोग।

5. कार्य व्यापार के लिये संगीत प्रयोग—

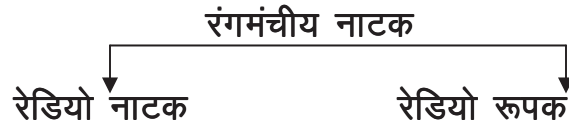
जैसे— कार्य व्यापार की आवश्यकता के अनुसार लोकशैली की समुचित परिपाटी और नाटक के मूलतत्त्व के सटीक अर्थों में संगीत समृद्धि।⁸³

परंतु वर्तमान युग में नाटक में प्रयुक्त संगीत परिवर्तन हो रहा है। नाटक का उद्देश्य नाटक दिखाना है, न कि संगीत सुनाना। संगीत का प्रयोग नाटक में संगीत के प्रभाव दिखाने के उद्देश्य से नहीं अपितु स्वाभाविकता के माध्यम से कथावस्तु की सहायता करना है। संगीत का प्रयोग नाटक के काल, वातावरण तथा भावानुकूल के अनुरूप होना अति आवश्यक है। केवल परम्परा निभाने तथा ध्वनि प्रभाव उत्पन्न करने के लिये संगीत का प्रयोग नहीं होना चाहिये। नाट्य में संगीत योजना करते समय इस बात का विशेष विचार करना चाहिये, कि किस स्थान पर किस राग और ताल में किस प्रकार के पात्र से, किस गति से तथा किस प्रकार के गीत योजना की जाए।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि प्रकाश, वेशभूषा, रूपसज्जा, संगीत आदि नाटक की रंगमंचीय प्रस्तुति में सहायक है। आदि काल से ही नाटक मंचीय विधा रही है। समय परिवर्तन के साथ-साथ मंच के आकार तथा प्रकारों में अंतर आता रहा है। मंच पर नाटक की प्रस्तुति एक सामूहिक कार्य है, जिसमें प्रकाश, ध्वनि, अभिनेय, संगीत आदि नाटक के सहायक तत्वों के रूप में कार्य करते हैं। रेडियो नाटक, टी.वी. नाटक, तथा नुक्कड़ नाटकों के बढ़ते प्रभाव ने रंगमंचीय नाटकों के प्रति जनता की रुचि कम तो कर दी है, परंतु वर्तमान युग में भी रंगमंचीय नाटक आदिकाल की ही भाँति समान रूप से अपनी महत्ता संजोए हुए है।

2.6.2 रेडियो नाटक

विज्ञान के आविष्कारों में से एक आविष्कार रेडियो है। रेडियो नाटकों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है।



रेडियो नाटक की साधारण शब्दों में व्याख्या की जाए तो कहा जा सकता है कि जब नाटक के प्रस्तुतीकरण का माध्यम रेडियो होता है तो 'रेडियो नाटक' कहलाता है। रेडियो के मात्र श्राव्य माध्यम होने के कारण उसमें ध्वनि (उच्चरित शब्द अथवा भाषा ध्वनि प्रभाव संगीत) ही प्रमुख रहती है। दर्शको के स्थान पर श्रोता होता है।

जयशंकर प्रसाद ने रेडियो नाटक के लिये 'रेडियो ड्रामा' शब्द का प्रयोग किया है।⁸⁴ हिन्दी साहित्य कोष के अनुसार रेडियो से प्रसारित नाटकों के लिये रेडियो नाटक अथवा नभोनाट्य का प्रयोग किया है। रेडियो नाटक, मात्र नाटक पाठन ही नहीं, अपितु विभिन्न भावों, पात्रों, संवादों के माध्यम से नाटक का प्रस्तुतीकरण है। ध्वनि और शब्द रेडियो नाटक का प्राणतत्व है। प्लेटफार्म की भीड़, फेरी वालों शोरगुल, कुली के पुकारने की आवाज, यात्रियों की चीख-पुकार, इंजनों के भोंपू आदि को रेडियो नाटकों में प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। रेडियो नाटकों रंगमंचीय नाटकों की कहीं अधिक सूक्ष्मतर तत्वों और जीवन मर्मों को अपना विषय बनाता है। रेडियो नाटक को ध्वनि शिल्प भी कहा जा सकता है।

“प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एक शक्तिशाली जन-माध्यम के रूप में रेडियो का विश्वव्यापी विस्तार हुआ। सूचना-संचार के अतिरिक्त मनोरंजन और विशेषतः नाटक के लिए इसकी अपरिमित सम्भावनाओं को रेडियोवालों ने पहले ही भाँप लिया था। रेडियो से प्रसारित हो सकने वाले किसी भी नाटक को सामान्यतः रेडियो-नाटक कहा जा सकता है। रंग-नाटक दृश्य-श्राव्य-काव्य है और रेडियो-नाटक केवल श्राव्य होने के कारण अन्धा-रंगमंच। अनेक ऐसे विषय, प्रसंग और दृश्य होते हैं जिन्हें मंच पर दिखा पाना लगभग असम्भव होता है जबकि रेडियो पर संगीत या ध्वनियों के द्वारा अत्यन्त सहजता और सरलता से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। रेडियो नाटक दृश्य-बन्ध, मंच-उपकरण, वस्त्राभूषण, रूप-विन्यास, छायालोक, भाव-भंगिमा,

दृश्य-परिवर्तन और संकलन-त्रय जैसी जरूरतों या सीमाओं से पूरी तरह मुक्त होता है। रंग-नाटक को देखने के लिए प्रेक्षागृह तक जाना, टिकट (या पास) लेना और दर्शकों के समूह के साथ अँधेरे में चुपचाप देखना आवश्यक है। इसके विपरीत, रेडियो-नाटक घर के सदस्यों के साथ खाते-पीते और बातचीत करते या अकेले में बैठकर कुछ भी करते-सोचते हुए घर पर ही आराम से मुफ्त में सुना जाता है। स्पष्ट है कि नाटक के अन्य रूपों या माध्यमों के मुकाबले रेडियो-नाटक कम खर्चीला और बेहद लचीला माध्यम है। परन्तु इसकी यह सुविधापूर्ण सामर्थ्य ही इसकी सबसे बड़ी सीमा भी है। दृश्यात्मकता की तमाम विशेषताओं को इसे केवल शब्दों और ध्वनियों के द्वारा ही व्यक्त करना पड़ता है। इसलिए नाटककार और अभिनेता की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है। रेडियो-स्टेशन के स्टूडियो का माइक्रोफोन इतना संवेदनशील होता है कि अभिनेता की आह या कराह ही नहीं, साँस लेने की आवाज को भी बड़ी आसानी से पकड़ लेता है। अभिनेता के मुँह और माइक की दूरी काल के साथ-साथ स्थान के आयाम को भी सम्प्रेषित कर देती है।⁸⁵

संपूर्ण रेडियो नाटक का नियंत्रण तीन प्रकार से हो सकता है।

(क) शब्द ध्वनि

(ख) वाद्य ध्वनि

(ग) प्रभाव ध्वनि

(क) शब्द ध्वनि- शब्द ध्वनि का ज्ञान नाटककार तथा पात्रों के लिए अति आवश्यक है, जैसे-संवादों का स्वर सामान्य होना चाहिए, श्रोताव्य अर्थपूर्ण होने के साथ-साथ श्रुति-सुखद, सहज-ग्राह्य और प्रभावोत्पादक हो। संवाद के वाक्य लम्बे न हो। इसका कारण यह है कि ध्वनियों द्वारा चरित्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है। अतः नाटककार को ऐसा ध्यान रखना पड़ता है कि प्रत्येक पात्र की टोन, लय, ध्वनि दूसरे से भिन्न प्रतीत हो।

(ख) वाद्य ध्वनि- वाद्य वर्णन से तात्पर्य संगीत से है। दृश्य-परिवर्तन के समय संक्षिप्त वाद्य ध्वनि प्रस्तुत की जाती है। कभी-2 संगीत के माध्यम से सूक्ष्मतर जीवन मर्मों को व्यंजित किया जा सकता है।

(ग) प्रभाव ध्वनि- प्रभाव ध्वनि का मुख्य प्रयोजन वातावरण निर्माण होता है। रेडियो नाटक को शिल्प की दृष्टि से निम्नलिखित प्रकारों में विभक्त किया गया है।

रेडियो नाटक



नाटक रूपक फेंटेसी रेडियो रूपांतर मोनोलॉग संगीत रूपक झलकियां

रंगमंचीय नाटकों तथा रेडियो नाटकों में मुख्य अंतर माध्यम का है, परन्तु इसके अतिरिक्त की अंतर पाए जाते हैं, जो निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। रंगमंचीय नाटक तथा रेडियो नाटकों में अंतर-

रंगमंचीय नाटक	रेडियो नाटक
1. यह दृश्य-श्रव्य विधा है।	1. यह मात्र श्रव्य है। दृश्य तत्व का आभाव है।
2. रंगमंचीय नाटक भूत, वर्तमान और भविष्य को सहजता से जोड़ने में सक्षम नहीं है।	2. रेडियो नाटक सहजता से भूत, वर्तमान और भविष्य को जोड़ने में सक्षम है।
3. रंग नाटक में पात्रों की उपस्थिति, मंच पर प्रवेश और प्रस्थान के कारण स्थूलता अधिक रहती है।	3. रेडियो नाटक में पात्रों की संख्या कम होती है तथा उनकी आवाज के आधार पर श्रोताओं के मस्तिष्क में भिन्न-2 पात्रों का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है।
4. रंगमंच में वैज्ञानिक सुविधाओं के होने पर भी प्रत्येक श्रोता एक सूक्ष्म वार्तालाप पहुँचना संभव नहीं।	4. रेडियो नाटक में सूक्ष्म से सूक्ष्म वार्तालाप भी श्रोता के लिये ग्राह्य होता है।
5. इन नाटकों का माध्यम रंगमंच है।	5. इन नाटकों का माध्यम रेडियो ध्वनि है।
6. रंगमंचीय नाटक मंच पर खेला जाता है, जिसका प्रदर्शन दर्शकों के समक्ष किया जाता है अतः दर्शक प्रत्यक्ष रूप से नाटक देखते हैं।	6. रेडियो नाटक में श्रोता की प्रत्यक्ष उपस्थिति अनिवार्य नहीं। श्रोता घर बैठे या अपना कार्य करते समय रेडियो के माध्यम से नाटक सुन सकता है।
7. विषय की दृष्टि से रंगमंचीय नाटक में व्यापकता कम रहती है।	7. रेडियो नाटक में व्यापक विषय को सहजता से प्रस्तुत किया जा सकता है।
8. रंगमंच पर चारों अभिनय का प्राधान्य होता है, नृत्य का समावेश कर नाटक सरस बनाए जाते हैं।	8. रेडियो नाटक में वाचिक पक्ष ही कार्य करता है प्रभावों की पूर्ति ध्वनि साधनों द्वारा ही करनी पड़ती है।
9. रंगमंच पर नाटकीय पात्रों के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रवेश वर्जित है। धटनाओं को	9. रेडियो नाटक में 'कथाकार' नामक एक व्यक्ति वर्णन के द्वारा पूर्वापर धटनाओं को

क्रिया-कलापों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।	संयुक्त करता चलता है। अर्थात् विष्कम्भक तथा प्रवेशक का कार्य-कथाकार करता है।
10. रंगमंचीय नाटक का भी आवश्यक अंग क्रियाशीलता है।	10. रेडियो नाटक में आवश्यक अंग संवाद-योजना है।
11. रंगमंचीय नाटकों को कार्य, काल, स्थान की इकाई के संकलन-त्रय का वंधन मानना पड़ता है।	11. रेडियो नाटक संकलन-त्रय के वंधन से मुक्त है।

रेडियो नाटक की विशेषताएँ

1. रेडियो नाटक मात्र पाठन नहीं अपितु यह एक विशिष्ट नाट्यशैली से सम्बंधित है। रेडियो नाटकों में श्रवणीय बिम्बों, संगीत, ध्वनि आदि के द्वारा प्रसंगों एवं चरित्रों को प्रस्तुत करने की क्षमता होती है। इसकी पाठ्य और मंचीय आयामों से जुड़ी एक विशेष नाटकीय शैली होती है।
2. रेडियो में श्रव्य तत्व प्रत्यक्ष तथा दृश्य परोक्ष होता है, परंतु रेडियो नाटक की सृजन प्रक्रिया में नाटककार में सीमित साधनों के रहने पर भी श्रव्यत्व के निर्वाह के साथ दृश्य तत्व को बनाए रखने की क्षमता होनी चाहिए।
3. रेडियो के दो उपकरण-ध्वनि और भाषा है। इसीलिये संवादों में स्थान, वातावरण, स्थिति, समय, पात्रों की भाव-भंगिमाओं का संकेत अनिवार्य है। जिससे श्रोता रेडियो नाटक को अपनी कल्पना शक्ति के माध्यम से अपने मस्तिष्क पटल पर चित्रित कर सके।

‘गैमलिन’ रेडियो नाटक के विषय में कहते हैं-

“ The act of writing a good radio script in deed often lies is knowing what not be say. there is no room for any phrase, even in the latest conversational passage which does not play an active part in the forward march programme words in radio have to work their passage and one has often got to do effect of three or four.”⁸⁶

रेडियो नाटक में संगीत की भूमिका- रेडियो नाटक मुख्यतः श्रव्य विद्या है, इसी कारण इसकी कुछ सीमाएं हैं। नाटक के प्रत्येक पक्ष को ध्वनि, संवाद, संगीत इत्यादि के माध्यम से ही दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है। मुख्य रूप से संगीत का प्रयोग रेडियो नाटक के प्रारंभ, अंतराल तथा अंत में देखने को मिलता है, जैसे-एक निश्चित धुन के साथ रेडियो नाटक का प्रारंभ होना। इसी प्रकार समय अंतराल जैसे- रेडियो नाटक में 5 वर्ष पश्चात् कथन के साथ-साथ संगीत भी प्रस्तुत किया जाता है, जिससे श्रोताओं के मस्तिष्क पर छवि स्वतः ही अंकित हो जाती है, इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति करते समय पार्श्व संगीत बजाया अथवा गाया जाता है। कोई निश्चित गतिविधि को प्रदर्शित करते समय भी संगीत की सहायता ली जाती है। संक्षिप्त में कहा जाए तो

रेडियो नाटक को सार्थक करने के लिये संवादों के साथ— साथ ध्वनि तथा संगीत का प्रयोग अत्यंत आवश्यक तथा अनिवार्य है।

2.6.3 टेलीविजन नाटक

रेडियो नाटकों में श्रोता को अपनी काल्पनिक आँखों से नाटक का प्रतिबिम्ब अपने मन पटल पर बनाना पड़ता था। अतः एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता हुई, जिसमें धर बैठे नाटक सुनने के साथ—साथ उसे देखा भी जा सके। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु 15 सितम्बर, 1959 को दिल्ली में टी.वी. अर्थात् टेलीविजन के प्रसारण का प्रारंभ हुआ। इससे दर्शक अपने धर बैठे ही नाटक को सुनने के साथ— साथ देखने का भी लुप्त उठाने लगे।

जोगिन्द्र सिंह बाबरा कहते हैं—“बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के पश्चात् दूरदर्शन केन्द्रों का निर्माण आरंभ हुआ। दूरदर्शन एक प्रकार से चलचित्र का भाई है। पहले फिल्म तैयार की जाती है और फिर उसे टेलीकास्ट किया जाता है। इसे आज की भाषा का छोटा पर्दा कहा जाता है।⁸⁷ जहां रंगमंच का नाटक श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है वहीं दूरदर्शन का नाटक कैमरे के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है जिससे गलती होने पर उसे तुरन्त सुधारा जा सकता है। साथ— साथ इसमें अभिनेता की गतिविधियों, भावों को तथा आवाज को स्पष्ट देखा व सुना जा सकता है।

अरविन्द मोरे इसे लचीला माध्यम बताते हुए कहते हैं—“टी.वी. नाटक प्रस्तुत करने का ऐसा लचीला माध्यम है जो रंगमंच की अपेक्षा अधिक लचीला है; जिसमें सिनेमा का तंत्र अपनाया जाता है, लेकिन टी.वी. पूर्णतः रंगमंच है इसमें दोनों का सामंजस्य होने के कारण यह अलग विधा बन गई है।

टेलीविजन नाटकों का वर्गीकरण— विभिन्न विद्वानों ने टेलीविजन नाटकों की विषयवस्तु तथा शिल्पविधि के आधार पर भिन्न—भिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है, जो इस प्रकार है—

(क) शिल्पगत विभिन्नता के आधार पर

1. अभिनेता
2. निर्देशन
3. मंच सज्जा
4. रूप सज्जा
5. वस्तु सज्जा
6. प्रकाश योजना
7. ध्वनि व्यवस्था
8. कैमरा संचालन
9. संपादन (Editing)

(ख) वस्तुगत विभिन्नता के आधार पर

1. सामाजिक नाटक
2. ऐतिहासिक नाटक
3. आर्थिक नाटक
4. प्रतीकात्मक नाटक

- | | |
|-------------------------------|--|
| 5. भावप्रधान नाटक (गीतिकाव्य) | 6. मनोवैज्ञानिक नाटक |
| 7. धार्मिक और सांस्कृतिक नाटक | 8. राष्ट्रीय चेतना प्रधान नाटक ⁸⁸ |

रंगमंचीय नाटकों तथा टेलीविजन नाटकों में अंतर—

रंगमंचीय नाटक	टेलीविजन नाटक
1. अभिनेता को सीमित स्थान तथा सीमित वस्तुओं की सीमाओं में बंधकर कार्य करना पड़ता है।	1. अभिनेता को रंगमंच की अपेक्षा कम सीमाओं में बंधकर कार्य करना पड़ता है।
2. रंगमंचीय नाटक लगातार होने के कारण कोई गलती होने पर उनमें उसी समय सुधार संभव नहीं है।	2. टेलीविजन नाटक में गलती को आसानी (Retake के माध्यम) से सुधारा जा सकता है।
3. अभिनेता को दर्शकों के समक्ष निश्चित समय में अपना प्रदर्शन करना पड़ता है। नाटक प्रारंभ होने के बाद लगातार रूप से दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।	3. अभिनेता को लगातार नाटक प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं है। इसमें वेशभूषा परिवर्तन, जलपान ग्रहण करने इत्यादि के लिए भरपूर समय विद्यमान रहता है। अभिनेता अपने मन के भावों के अनुसार नाटक के भिन्न-2 हिस्सों का भिन्न-2 समय में भी कर सकता है।
4. अभिनेता के भावों तथा गतिविधि को स्पष्ट रूप से प्रत्येक दर्शक तक पहुँचाना अत्यंत कठिन कार्य होता है।	4. कैमरे के माध्यम से अभिनेता की सूक्ष्म गतिविधि को स्पष्ट रूप से दर्शक तक सरलता से पहुँचाया जा सकता है।

रंगमंच तथा टेलीविजन नाटकों में अंतर स्पष्ट करते हुए हरीश कुमार कहते हैं—“ सिनेमा ने रंगमंच के समान इस रचनात्मकता को बहुआयाम दिए है। मंच पर न दिखाए जा सकने वाले दृश्यों को हम सिनेमा में आसानी से प्रस्तुत कर सकते हैं। ऊँचे हिम शिखर, कल-कल बहती नदियाँ, भयंकर तूफान, विनाशक युद्ध आदि अधिक सार्थक प्रभाव के जिनका मंचन संभवतः हजारों बार हो चुका होगा, उन्हें बार-बार देखने की ईच्छा रखते हैं। रंगमंच पर प्रस्तुत नाटक आज जीवित रूप से लोगों को आकर्षित कर सकते हैं।⁸⁹”

उपरोक्त वर्णन के द्वारा स्पष्ट है कि रंगमंचीय नाटक जहां अत्याधिक सीमाओं में बाँधकर कार्य करता है, वही टेलीविजन नाटक लचीला है।

टेलीविजन नाटक की विशेषता—

1. टेलीविजन नाटक प्रेक्षक धर बैठे ही देख सकता है। उसे नाटक देखने के लिये कहीं जाने की आवश्यकता नहीं रहती।
2. टेलीविजन नाटक स्पष्ट दृश्य तथा स्पष्ट ध्वनि के प्रवाह से सरलता से समझा जा सकता है।
3. टेलीविजन नाटकों में दृश्य प्रस्तुत करने की सुविधा उपलब्ध रहती है, जैसे— खेत का दृश्य, सड़क का दृश्य आदि। कैमरे के माध्यम से वास्तविक स्थान जैसे— पार्क, सड़क इत्यादि पर जाकर अभिनय प्रस्तुत कर दर्शक के मन पर प्रत्यक्ष तथा सटीक प्रभाव डाला जा सकता है।
4. क्लोज—अप के माध्यम से सूक्ष्म दृश्यों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जाता है।
5. टेलीविजन का पर्दा छोटा होने के कारण कुछ ही पात्रों को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया जा सकता है।
6. नाटककार को टेलीविजन नाटक की रचना करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसमें नीरसता कम—से—कम हो, नहीं तो दर्शक उसे बन्द कर देता है।

रंगमंचीय तथा रेडियो नाटकों की तरह टेलीविजन नाटकों में भी संगीत अत्यंत महत्वपूर्ण है।

टेलीविजन नाटकों में संगीत—

संगीत भावाभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष साधन होने के कारण टेलीविजन नाटकों में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है।, परंतु टेलीविजन नाटकों में पार्श्वसंगीत का प्रयोग अधिक किया जाता है। **डॉ. जोगिन्द्र वावरा के शब्दों में—** “दूरदर्शन की भूमिका शास्त्रीय संगीत के पक्ष में आकाशवाणी की तुलना में बड़ी दुर्बल है अपितु संगीत—नाटक, नृत्य के क्षेत्र में अधिक बलवती रही है”

वर्तमान युग के प्रसिद्ध नाटकों, जैसे— ‘सास भी कभी बहू थी’, ‘कहानी धर—धर की’, ‘कसौटी जिंदगी की’, ‘जस्सी जैसी कोई नहीं’ आदि के प्रत्येक धारावाहिक में संगीत कभी गायन तो कभी वाद्ययंत्रों की धुनों के रूप में विद्यमान रहता है। वर्तमान युग में कुछ ऐसे टेलीविजन नाटक भी बनाए जा रहे हैं, जिनमें संगीतज्ञों को आगे बढ़ने का मौका दिया जाता है। जो कि एक सराहनीय कदम माना जा सकता है।

श्री अरविन्द धोष ने इस विषय में कहा है— “टेलीविजन के नाटकों में सिनेमा की तरह पार्श्व—संगीत का प्रयोग किया जाता है। साथ ही इसमें Vedio Tap करने की सुविधा रहती है।”

जिस प्रकार रंगमंचीय नाटकों में गायक प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित होते हैं, परंतु टेलीविजन नाटकों का संगीत स्टूडियो में तैयार किया जाता है। अतः गायक—वादक की समय पर प्रत्यक्ष

उपस्थिति अनिवार्य नहीं होती। **श्री चेनी के शब्दों में—**“ टेलीविजन की मौलिकता कम-से-कम नाटक और रंगमंच की दृष्टि से इतनी थी कि इसके माध्यम से संगीत में विविधता आयी।” ‘हमलोग’, ‘नुक्कड़’, ‘पलास के फूल’ आदि ऐसे ही नाटक हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर भावों के अनुरूप कभी शास्त्रीय तो कभी लोकसंगीत देखने को मिलता है।

संक्षिप्त रूप में कह सकते हैं कि टेलीविजन में नाटक का एक भिन्न रूप सामने आया। अब श्रोता धर बैठे नाटक को न केवल सुन सकता है अपितु देख भी सकता है। परंतु टेलीविजन नाटकों में नाटक के वास्तविक रूप को बड़ी क्षति पहुंचाई है। इन नाटकों में अश्लीलता की प्रवृत्ति बढ़ी है, जिससे भारतीय संस्कृति को भारी क्षति पहुँची है। परंतु फिर भी कुछ सार्थक प्रयास अत्यंत सराहनीय हैं।

2.6.4 नुक्कड़ नाटक

नाटक मंच द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, यद्यपि नाटक हमारे देश में देव-जात्राओं और जुलूसों के बीच खुले मंच में होता रहा है। जिसमें दर्शक तथा नाटककार के बीच कोई दूरी नहीं होती। “यह जनता के लिये तथा जनता का नाटक होने के कारण लोक नाटक की परिधि में आता है, जिसे आज नुक्कड़ नाटक कहते हैं”⁹⁰ परंतु नुक्कड़ नाटक सिर्फ नाटक ही नहीं, संघर्षशील समसामयिक जन जीवन का जीवन्त दस्तावेज है। साथ-ही-साथ रंगमंचीय नाटकों की तुलना में बिना लागत के तैयार नुक्कड़ नाटक केवल लोकप्रियता नहीं बल्कि कथ्य, भाषा, शिल्प और कलात्मकता में भी आगे निकलता जा रहा है। नुक्कड़ नाटक का मूल उद्देश्य जनता को जागरूक करना है।

“भारतीय लोकमंच की सादगी, उन्मुक्तता, लचीलापन, संगीतात्मक प्रवाह और सामूहिकता से निश्चय ही उसका संबंध था इसीलिए यह पश्चिमी प्रभावों से नहीं बना। हिन्दी रंगमंच में विकास और परिवर्तन की दृष्टि से नुक्कड़ मंच का आरंभ हुआ और सही मानों में आम आदमी तक, बहुत बड़े जन समूह तक पहुंचने की कोशिश में, आम आदमी की अपनी भाषा तलाश करते हुए एक नाट्यान्दोलन के रूप में इसका आरंभ हुआ।”⁹¹

According to Brecht- “A theatre which makes no contact with the public is a non sense.”⁹²

According to Bertolt Brecht- “ Our street theatre is primitive; Origin, aims and methods of its performance are close to home. But there is no doubt that is a meaningful phenomenon with a clear social function that dominates all its elements.”

संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि नुक्कड़ नाटक जनता के लिए जन-धरातल पर खेला जाने वाला नाटक है, जिसका मुख्य उद्देश्य जन जागृति है। नुक्कड़ नाटक, लोक नाटक से भिन्न है। लोकनाट्य जनता का मनोरंजन करता है। जबकि नुक्कड़ नाटक ऐसा नहीं है। सड़क पर, चौराहों पर, नुक्कड़ों पर खेले जाने के कारण इसका नाम नुक्कड़ पड़ा है। नुक्कड़

नाटक को जनान्दोलन का एक भाग कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि इसमें गरीबी, भ्रष्टाचार एकाधिकार, वर्णभेद के कारण अन्याय, अत्याचार और शोषण जैसी प्रवृत्तियों पर विशेष रूप से कुठाराघात किया जाता है। इसी कारण नुक्कड़ नाटक उन स्थानों पर खेले जाते हैं, जो समस्या या सम्पर्क का मूल स्रोत है, जैसे— गले, चौराहे, कॉलेज, दफ्तर, कारखाना आदि।

नुक्कड़ नाटकों में सबसे महत्वपूर्ण नामों में सफदर हाशमी को गिना जाता है। जन-नाट्य-मंच में पिछले वर्षों में 'सफदर' शीर्षक से उनके पाँच नुक्कड़ नाटक प्रकाशित किए हैं— 'हल्ला बोल', 'मशीन', 'गाँव से शहर तक', 'राजा का बाजा' तथा 'भाई चारे का अपहरण' इत्यादि प्रमुख नुक्कड़ नाटक हैं।

नुक्कड़ नाटक को कला विहीन की संज्ञा देना उपयुक्त नहीं। गलियों, नुक्कड़, सड़कों पर खेले जाने के उपरांत भी इसके अपने नियम हैं, जैसे— नुक्कड़ नाटक में सूत्रधार का प्रयोग मुख्य है।

“पूर्व हो या पश्चिम—यों तो नाटक और रंगमंच की शुरुआत ही खुले में हुई अर्थात् नुक्कड़ ही वह पहला स्थान था जो नाटकों के खेलने में इस्तेमाल हुआ। आदिम युग में सब लोग दिन भर शिकार करने के बाद शाम में अपने अपने शिकार के साथ कहीं खुले में एक धेरा बनाकर बैठे जाते थे और उस धेरे के बीचोंबीच ही उनका भोजन पकता रहता, खान-पान होता और वहीं बाद में नाचना-गाना होता। इस प्रकार शुरु से ही नुक्कड़ नाटकों से जुड़े तीन जरूरी तत्वों की उपस्थिति इस प्रक्रिया में भी शामिल थी—प्रदर्शन स्थल के रूप में एक धेरा, दर्शकों और अभिनेताओं का अन्तरंग संबंध और सीधे सीधे दर्शकों की रोजमर्रा की ज़िन्दगी से जुड़े कथानकों, धटनाओं और नाटकों का मंचन। इसी का विकसित रूप हमें तब भी देखने को मिलता है जब आज से लगभग ढाई-तीन हजार वर्ष पहले यूनान में थेम्पिस नाटक अभिनेता घोड़ागाड़ी या भौंसगाड़ी में समान लादकर शहर घूमकर सड़कों पर, चौराहों पर अथवा बाजारों में अकेला ही नाटकों का मंचन किया करता था। आज तो स्थिति यह हो गई है कि बड़ी-बड़ी व्यावसायिक-व्यापारिक कम्पनियाँ अपने उत्पादनों के प्रचार के लिए नुक्कड़ नाटकों का प्रयोग कर रही हैं, सरकारी तन्त्र अपनी नीतियों-निर्देशों के प्रचार के लिए नुक्कड़ नाटक जैसे माध्यम का सहारा लेता है और राजनैतिक दल चुनाव के दिनों में अपने दल के प्रचार प्रसार के लिए इस विधा की ओर आकर्षित होते हैं।”⁹³

नुक्कड़ नाटक मूलतः एक वैयक्तिक विधा न होकर समूह को अपने साथ लेकर चलता है अर्थात् वह अनिवार्य रूप में एक कोरस की अपेक्षा रखता है। इसलिये नुक्कड़ नाटक एक बहुत ही सशक्त और जीवन्त माध्यम है और यह अकारण नहीं कि भारत हो या यूरोप के कुछ पश्चिमी देश—उन्होंने अपनी राजनैतिक विचारधाराओं के प्रचार प्रसार के लिए इस विधा को हाथों हाथ लिया। भारत में अपने वर्तमान रूप में नुक्कड़ नाटकों का इतिहास यदि पचास-साठ साल पुराना है तो पश्चिम में भी तीस साल पहले ही इस तरह की शैली में नाटक खेले जाने लगे।

नुक्कड़ नाटक तथा रंगमंचीय नाटक में अंतर—

रंगमंचीय नाटक	नुक्कड़ नाटक
1. रंगमंचीय नाटक तकनीकी सुविधाओं के साथ प्रस्तुत किए जाते हैं।	1. नुक्कड़ नाटक उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही प्रस्तुत किए जाते हैं।
2. रंगमंचीय नाटकों में दर्शकों के समक्ष भ्रम उत्पन्न करने हेतु अधिक-से-अधिक वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है।	2. नुक्कड़ नाटक में संदेश पहुंचाया जाता है।
3. रंगमंचीय नाटकों में सूक्ष्म पक्षों को महत्व दिया जाता है। वैसे ही स्थूल पक्षों पर भी महत्व दिया जाता है। जैसे— रूप-सज्जा, मंच-सज्जा आदि।	3. बाहरी सज्जा (स्थूल पक्ष) की कोई आवश्यकता नहीं होती।
4. रंगमंचीय नाटकों का प्रस्तुतीकरण सुव्यवस्थित मंच पर होता है।	4. नुक्कड़ नाटक साधारण स्थान को ही मंच बनाकर, साधारण जनता के समक्ष साधारण रूप से प्रस्तुत किया जाता है। ⁹⁴

नुक्कड़ नाटक की विशेषताएँ

संवाद-योजना नुक्कड़ नाटक के लिये एक महत्वपूर्ण तत्व है। नुक्कड़ नाटकों में मंच सज्जा की पूर्ति संवादों के माध्यम से ही होती है, जबकि मंचीय नाटक में संवाद कमजोर होने पर भी अन्य तत्व दर्शकों को बांधे रखते हैं।

नुक्कड़ नाटक मंचीय उपकरणों पर निर्भर नहीं करता। उपकरणों की पूर्ति पात्र तथा अभिनय की जीवंतता के माध्यम से की जाती है। नुक्कड़ नाटक का ध्येय किसी दृश्य विशेष को महत्व नुक्कड़ देकर उसके भीतर तक की सच्चाई को सामने लाना होता है, इसीलिए दृश्यगत आकर्षक और चकाचौंध उसके लिए निरर्थक वस्तु है।

नुक्कड़ नाटकों में संगीत

राजेश कुमार ने संगीत को अत्यंत आवश्यक अंग मानते हुए कहा—“ जहाँ कहीं नुक्कड़ नाटक करना होता है, सबसे पहले आ-जा रहे लोगों का ध्यान अपनी तरफ आकृष्ट करने के लिये वेहद जरूरी है—संगीत और ध्वनि का सहारा लेना; जिसके शुरु होती ही लोग चौंक उठते हैं, कौतूहलवश जुटने लगते हैं।⁹⁵ अधिकतर देखा गया है कि नुक्कड़ नाटक में सामूहिक गान के माध्यम से संगीत का प्रयोग किया जाता है, जिसमें वाद्यों की अपेक्षा उपलब्ध सामग्री, जैसे— तीलियाँ, माचिस की डिब्बी, पास रखी लकड़ी की मेज को गीत में ताल के लिए प्रयोग किया

जाता है। कुछ नुक्कड़ नाटक की प्रस्तुतियों में लोकवाद्यों, जैसे—हारमोनियम, मृदंग, ढोलक, झाँझ—मंजीरा, ढपली आदि का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में संगीत नुक्कड़ नाटक में प्रभावोत्पादकता में वृद्धि करता है।

नुक्कड़ नाटक नाट्यान्दोलन है नाटक की प्रस्तुती में कम—से—कम खर्चा ही अपेक्षित है। अतः जो साज सुलभता से उपलब्ध हो, उसी का प्रयोग किया जाता है। नुक्कड़ नाटक में प्रयोग किये जाने वाले गीत अधिकतर राष्ट्रीय प्रेरणा, समाजसुधार से ओत—प्रोत होते हैं। जिनकी भाषा तथा लय अत्यंत सरल होती है, जो दर्शकों पर सटीक प्रभाव छोड़ती है।

राजेश कुमार कहते हैं—“ शुरुआत के दिनों में नुक्कड़ में संगीत का प्रयोग कुछ कम था। बाद में नए—नए गीत धुनें संगीत तैयार हुए, जो नुक्कड़ नाटक में प्रवेश कर दर्शकों के बीच लोकप्रिय हुए।”⁹⁶

संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि नाटक का उद्देश्य तभी सफल होता है, जब इसे दर्शकों तक पहुंचाया जाए। जिसकी पूर्ति के लिये विभिन्न माध्यमों का सहयोग लिया जाता है। मुख्यतः रंगमंच को नाटक का प्रमुख माध्यम माना गया है। रंगमंच के साथ—2 आधुनिक युग में रेडियों, टेलीविजन तथा गली—चौबारों के नुक्कड़ों पर भी नाटक प्रदर्शित किए जाने लगे हैं।

संक्षिप्त रूप से चारों माध्यमों में अंतर को इस तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

रंगमंच नाटक	रेडियो नाटक	टेलीविजन नाटक	नुक्कड़ नाटक
1. दृश्य—श्राव्य विधा है।	1. श्राव्य विधा है।	1. श्राव्य, दृश्य विधा है।	1. दृश्य—श्राव्य विधा है।
2. प्रत्यक्ष दर्शकों के समक्ष प्रस्तुतीकरण किया जाता है।	2. श्रोता के लिये प्रदर्शन किया जाता है।	2. प्रत्यक्ष कैमरे के समक्ष तथा अप्रत्यक्ष दर्शकों के समक्ष प्रस्तुतीकरण किया जाता है।	2. प्रभावित लोगों के समक्ष प्रस्तुतीकरण किया जाता है।
3. प्रभावशाली संवादों का प्रयोग किया जाता है।	3. संवाद शुद्धता तथा स्पष्टता पर बल दिया जाता है।	3. रोचक तथा मनोरंजक संवादों का चयन किया जाता है।	3. लोकभाषा में संवाद कहे जाते हैं।
4. मंचीय पक्षों पर सूक्ष्म रूप से कार्य होता है।	4. वाणी तथा ध्वनि पर सूक्ष्म रूप से कार्य होता है।	4. प्रत्येक क्षेत्र का सूक्ष्म प्रदर्शन होता है।	4. सुन्दरता की अपेक्षा जनजागृति मुख्य उद्देश्य रहता है।
5. मंच पर मंच सज्जा	5. ध्वनि—संवाद तथा	5. स्थिति तथा स्थान	5. प्रतीकात्मक वस्तुओं

के माध्यम से स्थान, परिस्थिति का भ्रम उत्पन्न किया जाता है।	संगीत के माध्यम से परिस्थिति का आभास करवाया जाता है।	की समानता का अधिक से अधिक वांछनीय प्रयास किया जाता है।	का प्रयोग किया जाता है।
6. मंचशीर्ष एवं मंच पार्श्व संगीत का प्रयोग किया जाता है।	6. संगीत परिस्थिति निर्माण तथा भाव प्रदर्शन में प्रमुख रूप से प्रयुक्त होता है।	6. रिकॉर्ड किया गया संगीत प्रयोग में लाया जाता है। संगीत का उच्चस्तरीय प्रयोग होता है।	6. राष्ट्रीय गीतों तथा लोकवाद्यों का अधिक प्रयोग होता है।
7. नाट्य प्रस्तुति का माध्यम रंगमंच है।	7. रेडियो पर नाट्य प्रस्तुत किया जाता है।	7. टेलीविजन के माध्यम से नाटक प्रस्तुत किया जाता है।	7. नाट्य प्रस्तुति नुक्कड़, गली, चौराहों पर होती है। ⁹⁷

निष्कर्ष—

नाटक का विकास निर्झर प्रवाहित होने वाली नाटक सरिता की भाँति क्रमवद्ध तथा निरन्तर रूप से होता रहा है। समय परिवर्तन के साथ—2 इसके स्वरूप तथा प्रदर्शन में अंतर आया है। संस्कृत नाटकों में जहाँ पद्यात्मक शैली को नाटक का आधार बनाया गया, हिन्दी नाटकों ने गद्य को अपनाते हुये समाज का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत किया। वही दूसरी तरफ आधुनिक युग में नाटक केवल रंगमंच तक सीमित न रहकर गलियों, नुक्कड़ों में लोगों के बीच जा पहुंचा। टी.वी. तथा रेडियो जैसे वैज्ञानिक उपकरणों के आगमन ने नाटक को अत्याधिक लोकप्रिय विधा बनाने में अपना योगदान दिया है।

प्रमुख बात यह है कि नाटक प्रस्तुतीकरण के प्रत्येक माध्यम ने संगीत के महत्व को प्रत्येक विद्वान ने स्वीकारा है। संगीत का उपयोग नाटककार ने अपने नाटक में गीतों के माध्यम से प्रस्तुत किया है तो निर्देशक ने नाटक के अन्य पक्षों के साथ संगीत को नाटक के लिये मुख्य मानकर संगीत निर्देशन भी किया है।

नाटक के लिये संगीत के महत्व को स्वीकार कर भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने मई, 1951 में 'संगीत नाटक अकादमी' बनाने का प्रस्ताव पारित किया था। वर्तमान युग में भी नाटककार तथा निर्देशक दोनों की नाटक के लिये संगीत को अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार कर चुके हैं।

संदर्भित ग्रंथ

1. त्रिवेदी, डॉ. आभा, "साठोत्तरी रंगमंचीय हिन्दी नाटकों का अनुशीलन" शिवा पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स उदयपुर, पृष्ठ सं.—15
2. शर्मा, सुशीला देवी (2004) "हिन्दी रंग परम्परा और मोहन राकेश" नवजीवन पब्लिकेशन्स निवाड़, पृष्ठ सं.—2
3. जैन, नैमीचन्द्र (1993) "रंगदर्शन" राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं.—82,85
4. शर्मा, सुशीला देवी (2004) "हिन्दी रंग परम्परा और मोहन राकेश" नवजीवन पब्लिकेशन्स निवाड़, पृष्ठ सं.—2—3
5. नाट्यम 39 (संस्कृत रंगमंच की परम्परा और भारतीय पारंपरिक रंगमंच), पृष्ठ सं.—37
6. भरतमुनि, "नाट्यशास्त्र" प्रथम अध्याय, पृष्ठ सं.—17
7. चतुर्वेदी, आचार्य सीताराम (1953) "नाटक और रंगमंच नाटकों की उत्पत्ति", पृष्ठ सं.—1
8. सिंह, डॉ० केदारनाथ (1985) "हिन्दी के प्रतीक नाटक और रंगमंच" विद्या विहार प्रकाशन, पृष्ठ सं.—80
9. दास, डॉ. गोविन्द (1935) "नाट्य—कला मीमांसा", पृष्ठ सं.—44
10. चातक, गोविन्द (1988) "रंगमंच: कला और दृष्टि" तक्षशिला प्रकाशन, पृष्ठ सं.—142
11. सिंह, डॉ. उपेन्द्र नारायण "आधुनिक हिन्दी—नाटकों पर आंग्ल—नाटकों का प्रभाव", पृष्ठ सं.—28—29
12. नाट्यम 63 (संस्कृत रंगमंच : परम्परा तथा संभावनाएँ), पृष्ठ सं.—54,56
13. नाट्यम 39 (संस्कृत रंगमंच की परम्परा और भारतीय पारंपरिक रंगमंच), पृष्ठ सं.—36
14. अख्तर, डॉ. परवीन (2007) "समकालीन हिन्दी नाट्य परिदृश्य" विकास प्रकाशन कानपुर, पृष्ठ सं.—11—12

15. पालीवाल, डॉ. रीतारानी (1980) "रंगमंच नया परिदृश्य" लिपि प्रकाशन नईदिल्ली, पृष्ठ सं.—113—114
16. नाट्यम 63 (संस्कृत रंगमंच : परम्परा तथा संभावनाएँ), पृष्ठ सं.—57
17. नाट्यम 39 (संस्कृत रंगमंच की परम्परा और भारतीय पारंपरिक रंगमंच), पृष्ठ सं.—41
18. दास, श्री कृष्ण (1956) "हमारी नाट्य परम्परा" प्रयाग साहित्यकार संसद, पृष्ठ सं.—148
19. शर्मा, डॉ. विश्वनाथ (2001) "हिन्दी रंगमंच का उद्भव और विकास" राज पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ सं.—84
20. छायाण्ट-14 (जुलाई-सितम्बर, 1980), पृष्ठ सं.—63
21. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (10 नवम्बर 1970) 'भवभूति चले युग चला', पृष्ठ सं.—41
22. रस्तोगी, गिरीश (2004) "बीसवी शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच" भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृष्ठ सं.—15
23. कला प्रयोजन पत्रिका (16-17) 1999, पृष्ठ सं.—85,88
24. नाट्यम-50, पृष्ठ सं.—90,91,94
25. लाल, डॉ० लक्ष्मीनारायण (1973) "पारसी हिन्दी रंगमंच" राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन, पृष्ठ सं.—18
26. सिंह, डॉ० केदारनाथ (1985) "हिन्दी के प्रतीक नाटक और रंगमंच" विद्या विहार प्रकाशन, पृष्ठ सं.—81
27. गार्गी, बलवन्त (1962) "रंगमंच" नवयुग पब्लिशर, पृष्ठ सं.—171
28. वही, पृष्ठ सं.—86
29. दुबे, डॉ. चन्दू लाल (1974) "हिन्दी रंगमंच का इतिहास" जवाहर पुस्तकालय मथुरा, पृष्ठ सं.—35

30. वार्ष्णेय, डॉ. लक्ष्मी सागर (1998) "आधुनिक हिन्दी साहित्य" लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ सं.-70
31. लावण्य, डॉ. कीर्ति सिंह 'काव्या' (2009) "संगीत सुधा" कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, पृष्ठ सं.- 135
32. पाठक, पंचानन जनवरी-मार्च 2004 "पारसी रंगमंच और संगीत" रंग-प्रसंग-13, पृष्ठ सं.-92
33. अग्रवाल, प्रतिमा 1986 "मास्टर फिदा हुसैन: पारसी थियेटर में पचास वर्ष", पृष्ठ सं.-73
34. वही, पृष्ठ सं.-282
35. Saxena, Ram Babu, A History of Urdu Literature, Page no. 356
36. Mistry, Dr. Aban E., The Parsis and Indian Classical Music, Page no. 109-110
37. लाल, डॉ० लक्ष्मीनारायण (1973) "पारसी हिन्दी रंगमंच" राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन, पृष्ठ सं.-31,36
38. गुप्ता, डॉ० सोमनाथ (1981) "पारसी थियेटर: उद्भव और विकास" लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृष्ठ सं.-226
39. तनेजा, जयदेव (2010) "आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श" राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं.-84
40. शर्मा, सुशीला देवी (2004) "हिन्दी रंग परम्परा और मोहन राकेश" नवजीवन पब्लिकेशन्स निवाई, पृष्ठ सं.-1
41. त्रिवेदी, डॉ. आभा, "साठोत्तरी रंगमंचीय हिन्दी नाटकों का अनुशीलन" शिवा पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स उदयपुर,, पृष्ठ सं.-51-52
42. चावला, टीना "हिन्दी नाटक और संगीत" संजय प्रकाशन नईदिल्ली, पृष्ठ सं.-86
43. हिन्दी अनुशीलन-2009-2010, पृष्ठ सं.-200,203
44. अख्तर, डॉ. परवीन (2007) "समकालीन हिन्दी नाट्य परिदृश्य" विकास प्रकाशन कानपुर, पृष्ठ सं.-12
45. सिंह, डॉ. कुं. चन्द्रप्रकाश (1964) "हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा" भारतीय ग्रंथ भंडार दिल्ली, पृष्ठ सं.-180

46. पालीवाल, डॉ. रीतारानी (1980) "रंगमंच: नया परिदृश्य" लिपि प्रकाशन नईदिल्ली, पृष्ठ सं.
-125
47. Natyam Allhabad, Vol.1, No. 1, 1962, Page no. 28
48. नागरी पत्रिका अंक 6-7, मार्च अप्रैल, 1968, पृष्ठ सं.-90
49. शर्मा, डॉ. शिवकुमार (2011) "हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ" आर. जी. पब्लिशर्स, पृष्ठ सं.
-558
50. रस्तोगी, डॉ. गिरीश (1964) "हिन्दी नाटक: सिद्धांत और विवेचन", पृष्ठ सं.-70
51. दास, श्री कृष्ण (1956) "हमारी नाट्य परम्परा" प्रयाग साहित्य संस्करण, पृष्ठ सं.-189,190
52. सिंह, डॉ. बच्चन (2008) "हिन्दी नाटक" राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं.-34
53. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-चन्द्रावली नाटिका, पहला अंक, पृष्ठ सं.-65
54. चावला, टीना "हिन्दी नाटक और संगीत" संजय प्रकाशन दिल्ली, पृष्ठ सं.-92
55. शर्मा, सुशीला देवी "हिन्दी रंग परम्परा और मोहन राकेश" नवजीवन पब्लिकेशन्स निवाई, पृष्ठ सं.-16
56. शर्मा, डॉ. विश्वनाथ (2001) "हिन्दी रंगमंच का उद्भव और विकास" राज पब्लिशिंग हाउस,
पृष्ठ सं.-203-204
57. पाण्डेय, डॉ. रामसेवक (1960) "प्रसाद की नाट्यकला" अनुसंधान प्रकाशन, पृष्ठ सं.-324
58. कौल, गोपाल कृष्ण (2011) "हिन्दी नाटक और रंगमंच" सं. इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ सं.-61-62
59. प्रसाद, जयशंकर (2013) "काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध", पृष्ठ सं.-107-108
60. चातक, डॉ. गोविन्द (1970) "प्रसाद: नाट्य और रंग-शिल्प" आत्माराम एण्ड सन्स, पृष्ठ सं.
-269-270
61. गुप्त, डॉ. सोमनाथ (1951) "हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास" जालंधर हिन्दी भवन, पृष्ठ सं.-157
62. प्रसाद, डॉ. जयशंकर 'काव्यकला एवं अन्य निबन्ध' डायमण्ड बुक, पृष्ठ सं.-103

63. शर्मा, डॉ. शिवकुमार (2011) "हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ" आर. जी. पब्लिशर्स, पृष्ठ सं.-560-561
64. ओझा, दशरथ (1995) "हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास" राजपाल एण्ड सन्स, पृष्ठ सं.-272
65. अख्तर, डॉ. परवीन (2007) "समकालीन हिन्दी नाट्य परिदृश्य" विकास प्रकाशन कानपुर, पृष्ठ सं.-22-23
66. यादव, डॉ. सुरेन्द्र (2001) "नाटक रंगमंच और मोहन राकेश" तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ सं.-43
67. शास्त्री, विष्णुकांत "हिन्दी नाटक और रंगमंच" पहचान और परख, सं. इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ सं.-151
68. रस्तोगी, गिरीश (1999) "रंगभाषा" राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, पृष्ठ सं.-91
69. शर्मा, सुशीला देवी (2004) "हिन्दी रंग परम्परा और मोहन राकेश" नवजीवन पब्लिकेशन्स निवाड़ी, पृष्ठ सं.-23
70. www.google.com//rangmanch
71. लावण्य, डॉ. कीर्ति सिंह 'काव्या' (2009) "संगीत सुधा" कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, पृष्ठ सं.-134
72. तनेजा, जयदेव "रंगकर्म और मीडिया" तक्षशिला प्रकाशन नईदिल्ली, पृष्ठ सं.-18
73. चावला, टीना "हिन्दी नाटक और संगीत" संजय प्रकाशन नईदिल्ली, पृष्ठ सं.-104-105
74. लाल, डॉ.लक्ष्मीनारायण (1965) "रंगमंच और नाटक" नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ सं.-18
75. चातक, गोविन्द (1988) "रंगमंच : कला और दृष्टि" तक्षशिला प्रकाशन, पृष्ठ सं.-47
76. बौरा, राजमल एवं शर्मा, नारायण (1993) "हिन्दी नाटक और रंगमंच", वाणी प्रकाशन, पृष्ठ सं.-88
77. वशिष्ठ, सुरेश "हिन्दी नाटक और रंगमंच : ब्रेख्त का प्रभाव", पृष्ठ सं.-108

78. देवलिया, डॉ. विश्वभावन "नाट्य प्रस्तुति करण : स्वरूप और प्रक्रिया" (हिन्दी नाट्य समालोचन से उद्धृत), पृष्ठ सं.-226
79. माली, डॉ. शिवराम और गोकांककर, सुधाकर (1979) "नाटक और रंगमंच" नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ सं.-27
80. जैन, नैमीचन्द्र 2001 "नटरंग" (पत्रिका), अंक अष्टम्, पृष्ठ सं.-59
81. देवलिया, डॉ. विश्वभावन "नाट्य प्रस्तुति करण : स्वरूप और प्रक्रिया", पृष्ठ सं.-224
82. गर्ग, डॉ. उमा 2001 "संगीत का सौन्दर्य बोध" संजय प्रकाशन, पृष्ठ सं.-60
83. देवलिया, डॉ. विश्वभावन "नाट्य प्रस्तुति करण : स्वरूप और प्रक्रिया" (हिन्दी नाट्य समालोचन से उद्धृत), पृष्ठ सं.-227
84. प्रसाद, जयशंकर (2000) "काव्य और कला तथा अन्य निबंध" Diamond Pocket Books (P) Ltd. पृष्ठ सं.-106
85. तनेजा, जयदेव (2010) "आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श" राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं.-16-17
86. दीक्षित, डॉ. दुर्गा "नाटक और नाट्य-शैलियां", पृष्ठ सं.-63
87. बाबरा, जोगिन्द सिंह "भारतीय संगीत का इतिहास", पृष्ठ सं.-166
88. तनेजा, जयदेव (1943) "भारतीय रंग परिदृश्य" तक्षशिला प्रकाशन, पृष्ठ सं.-98
89. कुमार, हरिश (1998) "सिनेमा और साहित्य" संजय प्रकाशन, पृष्ठ सं.-5
90. चातक, गोविन्द (1996) "हिन्दी नाटक: इतिहास के सोपान" तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ सं.-179
91. रस्तोगी, गिरीश (2004) "बीसवी शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच" भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृष्ठ सं.-142
92. चन्द्रेश (1983) "नुक्कड़ नाटक" पृष्ठ सं.-13
93. अंकुर, देवेन्द्र राज (2000) "रंग कोलाज" राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं.-67-68

94. शर्मा, डॉ. मदन मोहन "स्वतंत्र्योत्तर युगीन परिपेक्ष्य और नुक्कड़ नाटक", पृष्ठ सं.—139
नटरंग (पत्रिका), अंक—50, पृष्ठ सं.—63—64
95. वही, पृष्ठ सं.—41
96. नटरंग (पत्रिका)—लेख राजेश, अंक—46, पृष्ठ सं.—42
97. गौतम, डॉ. रमेश "दिल्ली हिन्दी नाटक और रंगमंच", अभिरूचि प्रकाशन, पृष्ठ सं.—203